गल्प और कहानियाँ

अद्भुत आलाप	महावीरप्रसाद द्विवेदी	३)
अमृत	'अरुण'	२)
चिता के फूल	रामवृक्ष बेनीपुरी	२॥)
साध की होली	विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक	३)
आशीर्वाद	प्रतापनारायण श्रीवास्तव	३)
विधाता का विधान	,,	३)
फटा पत्र	गोविंदवल्लभ पंत	३)
सिंहगढ़-विजय	चतुरसेन शास्त्री	२)
नंदन-निकुंज	चंडीप्रसाद 'हृदयेश'	३)
प्रेम-प्रसून	प्रेमचंद	२॥।)
प्रेम-द्वादशी	,,	३)
प्रेम-पंचमी	,,	२।)
हिलोर	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	३)
मधुपर्क	,,	३।।)
पंजाब की महारानी	बेचन शर्मा 'उग्र'	१।)
रेशमी	,,	२।)
व्यक्तिगत	,,	२)
सनकी अमीर	,,	३)
बाहर-भीतर	'नरेंद्र'	२)
लिली	'निराला'	२।)
बीवी के लेक्चर	तिलक 'ख़ानाबदोश'	२।)
मानवी या देवी	कालीचरण चटर्जी	१।)

स्वाभिमानी नमक-हलाल

(१)

बहुत दौड़-धूप और चिकित्सा होने पर भी सेठ छुंगामल की दशा न सुधरी। वह प्रतिदिन चिता के निकट पहुँचते जा रहे थे। वृद्ध छुंगामल को भी यह भली भाँति विदित हो गया था कि उनकी रोग-शय्या बहुत शीघ्र मृत्यु-शय्या में परिवर्तित होनेवाली है। इसीलिये उन्होंने एक दिन अपने मुनीम मटरूमल को अपने पास बुलाया। उस समय मटरूमल की आयु ६० वर्ष के लगभग थी। मटरूमल के आने पर सेठ छुंगामल ने उन्हें अपने पास बिठा-कर कहा—"मुनीमजी, मेरा तो अब चल-चलाव लग रहा है, न-जाने किस समय दम निकल जाय। अच्छा है। मुझे संतोष है। हाथ-पैर चलते चला जाऊँ। इससे अधिक और क्या चाहिए। मुझे कोई अभिलाषा नहीं रही—संसार के सभी सुख-दुख देख चुका। कमाया भी ख़ूब—ख़र्च भी ख़ूब किया। भगवान् का दिया सब कुछ है। नाती-पोतों का मुख भी देख लिया। बस, अब तो ईश्वर जितना शीघ्र इस कष्ट से छुड़ावे, अच्छा है।"

वृद्ध मुनीम के चेहरे पर शोकमय गंभीरता दौड़ गई। कुछ रुँधे हुए कंठ से उन्होंने कहा—"परमात्मा आपको अच्छा कर दे। अभी आपकी उमर ही क्या है? मुझसे दो-चार बरस आप छोटे ही हैं। जब मैं हट्टा-कट्टा बैठा हूँ, तो आपका उठ खड़ा होना कौन आश्चर्य की बात है?"

सेठ छुंगामल विषादमय मृदु हास्य करके बोले—"मेरा उठ

खड़ा होना बिलकुल असंभव है। मृत्यु आठों पहर मेरी आँखों के सामने खड़ी रहती है, परंतु न-जाने वह देर क्यों कर रही है?"

मटरूमल—"आप ऐसी बातें मत सोचिए, इनके सोचने से कोई लाभ नहीं। अपने चित्त को प्रसन्न रखिए, और यह विश्वास करिए कि आप अवश्य अच्छे हो जायँगे।"

सेठ छुंगामल कुछ अप्रसन्न-से होकर बोले—"मेरी दशा इन आशाओं से कभी नहीं सुधर सकती। ये आशाएँ और विश्वास मुझे मौत के पंजे से नहीं छुड़ा सकते।"

मुनीमजी कुछ कहने ही को थे, परंतु सेठजी ने उन्हें हाथ के इशारे से रोककर कहा—"मुनीमजी, आप मुझे बहलाने की चेष्टा मत कीजिए। अब लोकाचार का समय नहीं रहा। मैंने आपको जिस काम के लिये बुलाया है, उसे सुनिए और समझिए।"

मुनीमजी—"मुझे जो आज्ञा हो, वह मैं सदैव करने के लिये—"

सेठजी—"इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं। आपको मेरे यहाँ रहते हुए ३० वर्ष हो चुके हैं। इतने दिनों में मुझे आपके विषय में पूरी जानकारी हासिल हो चुकी है। मुझे जितना विश्वास आप पर है, उतना चुन्नू पर भी नहीं।"

मुनीमजी—"यह सब आपकी कृपा—"

सेठजी—"कृपा नहीं, सच्ची बात है। अच्छा, ज़रा चुन्नू को बुलवाइए।"

मुनीमजी उठकर बाहर चले गए और दस मिनट बाद लौटे। उनके साथ एक नवयुवक था, जिसकी आयु पचीस-छब्बीस वर्ष के लगभग होगी। मुनीमजी तथा नवयुवक दोनो सेठजी के पलँग के पास बैठ गए।

सेठजी कुछ देर तक आँखें बंद किए पड़े रहे। तत्पश्चात् आँखें खोलकर बोले—"बेटा चुन्नू!"

नवयुवक—"हाँ पिताजी !"

सेठजी—"मैं तो अब दो ही चार दिन का मेहमान हूँ।"

चुन्नू—"आप भी क्या बातें किया करते हैं। आप अवश्य अच्छे हो जायँगे। कल डॉक्टर साहब कहते थे कि अभी कोई बात नहीं बिगड़ी। आप यों ही ऐसी बातें सोच-सोचकर तबियत परेशान किया करते हैं।"

सेठजी ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया, आँखें बंद किए पड़े रहे। कुछ देर बाद उन्होंने आँखें खोलकर कहा—"ख़ैर, जो मैं अच्छा हो गया, तब तो कोई बात ही नहीं, और यदि मैं चल ही बसा—"

चुन्नू—"यह आप क्या—"

सेठजी हाथ के इशारे से पुत्र को रोककर बोले—"पहले मेरी सब बातें सुन लो, फिर जो जी चाहे कह लेना। हाँ, तो यदि मैं चल ही बसा, तो अपने पीछे तुम्हारे लिये अपने स्थान पर मुनीमजी को छोड़ता हूँ।"

चुन्नूमल ने कुछ चौंककर मुनीमजी की ओर देखा। मुनीमजी भी कुछ घबरा-से गए।

सेठजी—"जो वेतन इन्हें अब दिया जाता है, वह सदैव दिए जाना—चाहे यह काम करें, या न करें। जब कोई बड़ा काम करना या ऐसा काम करना, जो भली भाँति तुम्हारा समझा हुआ न हो, तब पहले मुनीमजी से सलाह ले लेना और जैसा यह कहें, वैसा ही करना।"

चुन्नूमल आँखें फाड़-फाड़कर मुनीमजी की ओर देखते जाते थे और पिता की बातें सुन रहे थे। मुनीमजी चुपचाप सिर झुकाए बैठे थे।

सेठजी कुछ देर दम लेने के बाद बोले—"बस, तुम्हारे लिये

मेरी यह अंतिम आज्ञा है। मुझे और किसी संबंध में कुछ नहीं कहना। तुम स्वयं समझदार हो, जो उचित समझना, करना।"

सेठजी ने फिर कुछ देर दम लिया। तत्पश्चात् बोले—"मुनीमजी! आपसे मुझे कुछ नहीं कहना। मुझे विश्वास है, जो व्यवहार आप मेरे साथ करते आए हैं, वही चुन्नू से भी करते रहेंगे, वरन् उससे अधिक ही करेंगे। कारण, आप इसे सदैव पुत्र-वत् समझते रहे हैं।"

मुनीमजी ने सेठजी की बात का कोई उत्तर न दिया। सेठजी ने मुनीमजी की ओर देखा। वृद्ध मुनीम की आँखों से आँसुओं की छोटी-छोटी बूँदें निकलकर उनके झुर्रियाँ पड़े हुए गालों पर बह रही थीं। जान पड़ता है, सेठजी को उन बूँदों ही के द्वारा अपनी बात का उत्तर मिल गया; क्योंकि उन्होंने कुछ प्रसन्न मुख होकर दूसरी ओर करवट बदल ली।

(२)

सेठजी का स्वर्गवास हुए तीन महीने बीत गए। सेठ चुन्नूमल, अपने पिता के एक-मात्र पुत्र होने के कारण, सारे करोबार के मालिक हुए। वृद्ध मुनीम मटरूमल जिस प्रकार बड़े सेठजी का काम करते थे, उसी प्रकार छोटे सेठ चुन्नूमल का काम-काज करने लगे। कार्य-भार हाथ में लेने के पश्चात् दो महीने तक तो चुन्नू-मल और मुनीमजी में खूब पटी; परंतु फिर क्रमशः चुन्नूमल को मुनीमजी काँटे की तरह खटकने लगे। इसका कारण यह था कि चुन्नूमल नवयुवक होने के कारण संसार की गति से अनभिज्ञ थे। अतएव उलटी-सीधी, जो मन में आती थी, करने के लिये तैयार हो जाते थे। परंतु मुनीमजी यथाशक्ति उन्हें रोकते थे। चुन्नूमल मुनीमजी की बात मान तो लेते थे, पर उन्हें मुनीमजी का हस्त-क्षेप करना बहुत बुरा लगता था। प्रायः मुनीमजी उन्हें डाँट भी

दिया करते थे। मुनीमजी की डाँट से चुन्नूमल का गरम ख़ून उबलने लगता था; परंतु कुछ तो पिता के अंतिम वाक्य याद करके, और कुछ इस कारण से कि वह बाल्यावस्था से मुनीमजी के शासन में रहने के अभ्यस्त थे, उन्हें कुछ अधिक कहने-सुनने और मुनीमजी की बात को न मानने का साहस नहीं होता था।

एक दिन चुन्नूमल ने अपने कुछ मित्रों के साथ बाहर घूमने के लिये जाने की इच्छा की। उन दिनों काम का बड़ा ज़ोर था, अतएव मुनीमजी ने कहा—"इस समय आपका बाहर जाना ठीक नहीं है। पंद्रह-बीस दिन रुक जाइए। जब काम कुछ हलका हो, तब चले जाइएगा। मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं सारे काम-काज की देख-भाल कर सकूँ। नौकरों के भरोसे इतना बड़ा काम छोड़ देना भी ठीक नहीं।"

चुन्नूमल नाक-भौं सिकोड़कर बोले—"मैं क्या नौकरों के पीछे-पीछे घूमा करता हूँ। आख़िर मेरे रहने पर भी तो वे ही काम करते हैं।"

मुनीमजी—"यह ठीक है, पर मालिक के पास रहने से नौकरों को खटका रहता है और वे कोई गड़बड़ नहीं कर सकते। जब मालिक नहीं होता, तब उनको कोई डर नहीं रहता, वे मन-माना काम करते हैं।"

चुन्नूमल—"यह कुछ नहीं। मैं मित्रों से चलने का पक्का वादा कर चुका हूँ, इसलिये अवश्य जाऊँगा।"

मुनीमजी कुछ अप्रसन्न होकर बोले—"मैं आपको इस समय नहीं जाने दूँगा। मित्रों को कहने दीजिए। आदमी को अपना बनता-बिगड़ता देखना चाहिए, मित्र तो कहा ही करते हैं।"

चुन्नूमल मुनीमजी को अप्रसन्न होते देख चुप तो रहे, परंतु उन्हें उन पर बड़ा क्रोध हो आया।

उसी दिन शाम को मित्रों से साक्षात् होने पर चुन्नूमल ने कहा—"भई, मैं तो इस समय आप लोगों के साथ नहीं चल सकता।"

एक मित्र बोला—"क्यों ?"

चुन्नूमल—"मुनीमजी कहते हैं—इस समय काम अधिक है ; मेरा जाना ठीक नहीं।"

दूसरा—"और तुम उस बुड्ढे खूसट की बातों में आ गए ?"

चुन्नू—"क्या करूँ, अधिक कुछ कहता हूँ, तो वह अप्रसन्न होते हैं।"

पहला—"अप्रसन्न होते हैं, तो होने दो। वह हैं कौन ? नौकर लाख कुछ हो, फिर नौकर ही है।"

चुन्नू—"यह तो ठीक है, परंतु—"

तीसरा—"यार, तुम ख़ुद दब्बू हो, नहीं तो एक नौकर की क्या मजाल है, जो मालिक पर दबाव डाले।"

दूसरा—"बात सच्ची तो यह है कि कहने को तो तुम स्वतंत्र हो गए, पर अब भी उतने ही परतंत्र हो, जितने बड़े सेठजी के समय में थे। तुम कुछ बछुआ तो हो नहीं, जो अपना बनता-बिगड़ता न समझो।"

तीसरा—"अरे यार, यह बुड्ढा बड़ा चलता हुआ है। यह चाहता है कि तुम इसकी मुट्ठी में रहो ; जितना पानी पिलावे, उतना ही पियो।"

पहला—"सचमुच तुम्हारे लिये यह बड़ी लज्जा की बात है।"

इस प्रकार सब मित्रों ने मिलकर चुन्नूमल को ऐसा पानी पर चढ़ाया कि उन्होंने यह ठान ली कि चाहे जो कुछ हो, परंतु अब मुनीमजी के शासन में नहीं रहेंगे।

दूसरे दिन सबेरे चुन्नूमल मित्रों के साथ जाने की तैयारी करने लगे। मुनीमजी को जो इस बात का पता लगा, तो वह बड़े कुंठित हुए और चुन्नूमल से बोले—"आख़िर आपने मेरा कहना न माना और जाने की तैयारी कर ही दी।"

चुन्नूमल एक तो ख़ुद ही मुनीमजी से तंग आ गए थे, दूसरे

मित्रों ने भी उन्हें ख़ूब भर दिया था। वह मुनीमजी का तिरस्कार करने के लिये तैयार होकर बैठे थे, अतएव उन्होंने छूटते ही कहा—"आप होते कौन हैं, जो आपकी बात मानूँ ? मैं तो केवल इसलिये कि आप पुराने हैं, और पिताजी भी आपसे सलाह-बलाह ले लेने के लिये कह गए थे, आपका आदर करता हूँ, और आप सिर पर ही चढ़े जाते हैं। क्या आप चाहते हैं कि मैं सोलहो आने आप ही के कहने पर चलूँ ?"

मुनीमजी इस उत्तर के लिये तैयार न थे। वह चुन्नूमल के मुँह से—उस चुन्नू के मुँह से—जिसे उन्होंने गोदियों में खिलाया था, जिसे उन्होंने सिखा-पढ़ाकर व्यापार-कला में दक्ष किया था—यह उत्तर सुनकर स्तंभित रह गए। उन्हें कभी स्वप्न में भी इस उत्तर की आशा न थी। बड़ी देर तक वह सन्नाटे में खड़े चुन्नूमल का मुँह ताकते और यह सोचते रहे कि आज वह दिन आ गया, जिसकी कल्पना-मात्र से उनका हृदय दहला करता था। अंत को सँभलकर कुछ नम्र स्वर में बोले—ख़ैर, आप चाहे जो समझें, और मेरी बातों का चाहे जो अर्थ लगावें, परंतु मैं जब तक यहाँ बैठा हूँ, तब तक उस काम के लिये सदैव टोकता रहूँगा, जिसे अनुचित समझता हूँ। मुझसे यह नहीं हो सकता कि चाहे बने या बिगड़े, मैं चुपचाप बैठा-बैठा देखा करूँ।"

चुन्नूमल गंभीरता-पूर्वक बोले—"यदि आपसे नहीं देखा जाता, तो आप अपने घर बैठें।"

चुन्नूमल के इस वाक्य से मुनीमजी का रहा-सहा आशा-सूत्र भी छिन्न-भिन्न हो गया। उनके हृदय पर चोट लगी। इधर आत्मगौरव और स्वाभिमान ने भी हृदय पर दबाव डाला। उन्होंने सिर झुका-कर धीरे से कहा—"अच्छा, यदि आपकी यही इच्छा है, तो ऐसा ही होगा।"

चुन्नूमल मुनीमजी की इस बात से मन-ही-मन प्रसन्न हुए। उन्होंने समझा—"चलो अच्छा हुआ, 'आँख फूटी, पीर गई'।"

(३)

मुनीमजी ने चुन्नूमल के यहाँ जाना बंद कर दिया। कुछ लोगों ने, जो मुनीजी और चुन्नूमल दोनो के शुभचिंतक थे, मुनीमजी को समझाया कि जाने दीजिए, बच्चा है, उसकी बात का बुरा न मानिए। आप अपने स्वामी—बड़े सेठजी—की बात का स्मरण कीजिए। परंतु मुनीमजी ने इसका उत्तर दिया—"मैं केवल अपने स्वामी की बात पर, उनके पश्चात् भी, उनके घर को अपना घर समझता रहा और सदैव समझता रहता। मैं चुन्नू की सब बातें सह सकता था, परंतु जब उसने मुझसे साफ़-साफ़ कह दिया कि 'घर बैठो', तब रह क्या गया? मेरा हृदय इसे स्वीकार नहीं करता कि मैं अब वहाँ जाऊँ। जौहर का परखनेवाला जौहरी मेरा स्वामी था; जब वही उठ गया, तो अब किसके पास आऊँ-जाऊँ?"

लोगों ने चुन्नू को भी बहुत समझाया-बुझाया कि तुम अपने दुर्व्यवहार के लिये मुनीमजी से क्षमा माँगो, और उन्हें मना-सुनूकर राज़ी करो। परंतु, समझानेवालों की अपेक्षा भड़कानेवाले अधिक थे। अतएव चुन्नूमल ने इस बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया। उन्होंने केवल इतना किया कि मुनीमजी को पेंशन के तौर पर कुछ मासिक देना चाहा; परंतु मुनीमजी ने एक पैसा तक लेना स्वीकार न किया। उन्होंने कह दिया—"मैं कभी चुन्नूमल का नौकर नहीं रहा। जिसका नौकर था; उसका था। मैं चुन्नूमल का एक पैसा भी नहीं ले सकता।"

इस प्रकार चुन्नूमल पर जो थोड़ा बहुत अंकुश था, वह भी दूर हो गया। अब चुन्नूमल पूर्ण स्वतंत्र हो गए। स्वतंत्र होने से विलासिताप्रिय चुन्नूमल के ख़र्च बढ़ गए। उन्होंने अपने कारोबार पर भी उचित ध्यान देना छोड़ दिया। सब काम प्रायः नौकरों ही के

भरोसे पर होने लगा। साल-डेढ़ साल इसी प्रकार काम चला। उनके कारोबार की इमारत बहुत बड़ी थी और उसकी नींव कमज़ोर हो गई थी। समय के चक्र ने उलट-फेर करके स्थिति का रंग बदल दिया। चुन्नूमल की लापरवाही अंत में वह दिन ले ही आई, जिससे सेठ छंगामल का फ़र्म डगमगाने लगा। दो लाख की एक हुंडी का भुगतान था। चुन्नूमल को उसका स्मरण ही न था, न उनके नौकरों और मुनीमों ने ही उस पर कुछ ध्यान रक्खा। जिस समय आदमी हुंडी लेकर दूकान पर आया और उसने हुंडी का भुगतान माँगा, उस समय चुन्नूमल की आँखें खुलीं। उस समय उनके पास केवल पचास हज़ार रुपए ही तैयार थे। इसमें संदेह नहीं कि यदि दो-चार दिन पहले उन्हें उस भुगतान का ध्यान आ जाता, तो दो लाख क्या, चार-छ लाख का भुगतान भी दिया जा सकता था। परंतु दो-चार दिन पहले तो क्या, चुन्नूमल को एक घंटा पहले तक भी उसका ध्यान न आया। अब यदि भुगतान तुरंत नहीं दिया जाता, तो फ़र्म दिवालिया हुआ जाता है। यह एक ऐसी बात थी, जिससे चुन्नूमल-जैसे लापरवाह का भी कलेजा हिल गया। उनके हाथ-पैर फूल गए, आँखों-तले अँधेरा छा गया। उन्होंने तुरंत दो-चार जगह, जहाँ उनका व्यवहार रहता था, रुपए के लिये आदमी दौड़ाए। परंतु डेढ़ लाख की रक़म सहज में मिल जाना कोई खेल नहीं था। इसके अतिरिक्त लोग चुन्नूमल की दशा देखकर उनके फ़र्म से खटक गए थे। अतएव जो दे सकते थे, उन्होंने भी इनकार कर दिया। यह स्थिति देखकर चुन्नूमल ने अपने मुनीमों से परामर्श किया कि अब क्या किया जाय। इतना बड़ा फ़र्म दिवालिया हुआ जाता है, सेठ छंगामल की सारी कीर्ति धूल में मिली जाती है।

उनके प्रधान मुनीम ने कहा—"हम क्या बतावें! जैसा आप उचित समझें, करें।"

चुन्नूमल रुआसे-से होकर बोले—"तुम लोगों की लापरवाही से ही यह दिन देखना पड़ा। शोक! यदि मटरूमल होते, तो क्या ऐसी स्थिति होने पाती? वह दस दिन पहले ही से प्रबंध कर रखते।"

मुनीम—"इधर आपने भी काम की ओर बिलकुल ध्यान न रक्खा। हम लोग किस-किस बात का ध्यान रक्खें? एक हो, दो हों, तो ध्यान रह भी सकता है।"

इधर भुगतान लेनेवाले ने कहा—"क्यों साहब, क्या देर-दार है? हुंडी का भुगतान दीजिए।"

चुन्नूमल भीतर बैठे हुए मुनीमों से झगड़ रहे थे। आदमी ने जाकर उनसे यह बात कही।

चुन्नूमल ने आदमी से कहा—"कह दो—अभी भुगतान होता है, घबराएँ नहीं।"

आदमी को तो यह कहकर टाल दिया, और इधर मुनीम से बोले—"अब क्या किया जाय, कुछ तो बताओ?"

मुनीम बोला—"मेरी समझ में यदि मटरूमलजी आवें, तो वह कोई-न-कोई युक्ति निकाल ही लेंगे।"

चुन्नूमल को भी यह बात जँच गई। बोले—"अच्छा, तो जाओ, उन्हें बुला लाओ।"

मुनीम—"मेरे या किसी और के बुलाए से तो वह कभी न आवेंगे। इस समय यदि आप ही जायँ, तो वह आ सकते हैं।"

चुन्नूमल ने सिर झुकाकर कहा—"मुझे जाना पड़ेगा?"

यद्यपि चुन्नूमल को बहुत कुछ आशा थी कि मटरूमल के आने पर इस विपत्ति से छुटकारा होने की संभावना है, परंतु, फिर भी उनका हृदय मटरूमल के पास जाने से पीछे हटता था।

मुनीम—"आपको जाना ही पड़ेगा। न जाइएगा, तो क्या दिवालिए बनिएगा?"

चुन्नूमल—"अच्छा, मैं जाता हूँ। तुम उस आदमी से कह दो कि बड़े मुनीमजी को बुलवाया है, उनके आने पर भुगतान दिया जायगा।"

यह कहकर चुन्नूमल ने उसी समय गाड़ी जुतवाई और मुनीमजी के मकान की ओर चले। रास्ते में वह सोचते जाते थे कि क्या मुँह लेकर उनके सामने जाता हूँ। क्या वह चले आवेंगे? इसी प्रकार सोचते हुए चुन्नूमल मुनीमजी के मकान पर पहुँचे। जाड़े के दिन थे। शाम हो चुकी थी। मटरूमल दुलाई ओढ़े, बैठे हुक्का पी रहे थे। उनके नौकर ने आकर कहा—"मुनीमजी, सेठ चुन्नूमल आपसे मिलने आए हैं।"

मुनीमजी चौंक पड़े। बोले—"ऍं! चुन्नूमल?"

नौकर—"जी हाँ, चुन्नूमल।"

मुनीमजी कुछ देर तक सन्नाटे में बैठे रहे। तत्पश्चात् बोले—"अच्छा, बुला लाओ।"

चुन्नूमल सकुचाते हुए मटरूमल के सामने आए, और आते ही उनके पैरों पर गिरकर रोने लगे। मटरूमल चुन्नूमल की यह दशा देख पहले बड़े आश्चर्यान्वित हुए; परंतु साथ ही यह समझकर कि इन पर इस समय कोई बड़ी विपत्ति आई है, इसीलिये इनकी यह दशा है, उन्होंने सप्रेम चुन्नूमल का सिर ऊपर उठाया और कहा—"क्यों बेटा, क्या बात है? इतने घबराए हुए क्यों हो?"

चुन्नूमल ने समस्त वृत्तांत कह सुनाया और फिर कहा—"इस समय आप ही की सहायता से हमारी नाव इस भँवर से निकल सकती है।"

मटरूमल भी यह स्थिति सुनकर घबरा गए और बोले—"इस दशा में मैं क्या कर सकता हूँ? मेरे यहाँ रुपया होता, तो मैं उसे

देता। और, जो कुछ है, वह तुम्हारा ही है। तुम्हारा उससे काम चले, तो ले जाओ।"

चुन्नूमल—"मैं रुपया-उपया कुछ नहीं जानता। किसी तरह एक या दो दिन के लिये यह अवसर टाल दीजिए। फिर तो दो लाख क्या, मैं दस लाख का प्रबंध कर लूँगा।"

मटरूमल चुन्नूमल की दशा देख और उनकी विपत्ति का हाल सुनकर विचार करने में ऐसे मग्न हो गए कि उन्हें यह ध्यान ही न आया कि यह वही चुन्नूमल है, जिसने उन्हें 'घर बैठने' के लिये कह दिया था।

मटरूमल बड़ी देर तक विचार करते रहे। तत्पश्चात् बोले—"अच्छा चलो।" यह कहकर वह केवल दुलाई ओढ़े वैसे ही उठ खड़े हुए। रास्ते में चुन्नूमल मटरूमल की शांत चित्तता पर विस्मित होकर सोचने लगे—"आख़िर यह करेंगे क्या? भुगतान तो रुपए से होगा। यह वहाँ क्या करेंगे? यह तो ऐसे निश्चिंत हैं, मानो कोई बात ही नहीं हुई।"

इसी प्रकार सोचते हुए चुन्नूमल मटरूमल के साथ अपने यहाँ पहुँचे। मटरूमल ने गद्दी पर पहुँचते ही कहा—"भाई, मैं जल्दी में चला आया, कुछ कपड़ा भी नहीं पहना। ज़रा एक अँगीठी में कोयले दहकाकर ले आओ। हाथ-पैर ठिठुर गए।" यह कहकर वह गद्दी पर बैठ गए।

चुन्नूमल ने उनके सामने हुंडी रक्खी और बोले- "देखिए, इस हुंडी का भुगतान करना है।"

मटरूमल बोले—"भई, ज़रा उँगलियाँ तो सीधी कर लूँ, तो देखूँ। जाड़े के मारे उँगलियाँ तो सीधी ही नहीं होतीं।"

कुछ देर बाद दहकती हुई अँगीठी मटरूमल के सामने आई। मटरूमल कुछ देर तक उसमें हाथ सेंकने के बाद बोले—"हाँ भई,

अब लाओ हुंडी, देखूँ। बुढ़ापे में शरीर की दुर्दशा हो जाती है। मेरे तो हाथ भी अब काँपने लगे।"

यह कहकर उन्होंने हुंडी हाथ में ले ली। उसे आँखों के सामने लाए। हाथों के ठीक नीचे अँगीठी थी। अकस्मात् उनके हाथ थर्राए, और हुंडी हाथ से छूटकर अँगीठी में जा गिरी। जब तक लोगों का ध्यान उसकी ओर जाय-जाय, तब तक वह जलकर राख हो गई।

भुगतान माँगनेवाले के चेहरे का रंग उड़ गया। इधर चुन्नूमल का चेहरा मारे प्रसन्नता के खिल उठा।

मटरूमल किसी के कुछ बोलने के पहले ही बोल उठे—"क्या कहूँ, हाथ ऐसे काँपे कि हुंडी सँभली ही नहीं। ख़ैर, कोई चिंता नहीं। (भुगतान लेनेवाले से) तुम हुंडी की नक़ल लाओ और भुगतान ले जाओ। अभी ले आओ, अभी भुगतान मिल जाय।"

भुगतान लेनेवाला जल-भुनकर बोला—"नक़ल क्या मेरे पास धरी है। जब मँगाई जायगी, तब आवेगी। नक़ल मँगाने में तीन-चार दिन लग जायँगे।"

मटरूमल—"तो भाई, मैं इसे क्या करूँ। समय की बात है, हाथ काँप गया। बुड्ढा आदमी ठहरा। परंतु इससे क्या तुम्हारा भुगतान तो रह ही न जायगा।"

भुगतान लेनेवाला बोला—"भुगतान भला क्या रह सकता है? पर तीन-चार दिन का झमेला तो लग गया।"

मटरूमल—"अब तो लग ही गया, क्या किया जाय?"

भुगतान लेनेवाला उठ खड़ा हुआ और बोला—"अच्छा, नक़ल आ जाने पर भुगतान ले जाऊँगा।"

यह कहकर वह चला गया।

उसके जाते ही चुन्नूमल मटरूमल के पैरों पर गिर पड़े, और बोले—"धन्य है आपको। मैंने आपको उस समय नहीं पहचाना

था। इसीलिये पिताजी आपका इतना आदर करते थे और अंत समय मुझे वह आज्ञा दे गए थे।"

अब मटरूमल को ध्यान आया कि उनके सामने, वही चुन्नूमल है, जिसने उनसे घर बैठने के लिये कहा था। वह तुरंत उठ खड़े हुए, और बोले—"यह सब ठीक है, पर मुझे तुम्हारे वे घर बैठनेवाले वाक्य अभी याद हैं, अतएव मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहर सकता।"

यह कहकर और शीघ्रता-पूर्वक जूता पहनकर वह वहाँ से चल खड़े हुए।

उद्‌गार

(१)

"बेटी सुशीला, अब रहने दे। बारह तो बज गए, सबेरे देखा जायगा। आज दिन-भर और इतनी रात काम करते ही बीती।"

रात के बारह बज चुके हैं। संसार का अधिकांश भाग निद्रा की गोद में ख़र्राटे ले रहा है। जाग केवल वे लोग रहे हैं, जिन्हें जागने में सोने की अपेक्षा विशेष आनंद और सुख मिलता है, अथवा वे लोग, जो दिन को रात तथा रात को दिन समझते हैं, और या फिर वे लोग, जो रात के अंधकार और लोगों की निद्रावस्था से अनुचित लाभ उठाने को उत्सुक रहते हैं। परंतु इनके अतिरिक्त कुछ और प्रकार के लोग भी जाग रहे हैं। ये लोग वे हैं, जिनके उदर-पोषण के लिये दिन के बारह घंटे यथेष्ट नहीं, जिनके लिये सोने और आराम करने का अर्थ दूसरे दिन फ़ाका करना है, जो निद्रा-देवी के प्रेमालिंगन का तिरस्कार केवल इसलिये कर रहे हैं कि उसके बदले में दूसरे दिन उन्हें क्षुधा-राक्षसी की मार सहनी पड़ेगी।

उनकी आँखें झुकी पड़ती हैं, सिर चकरा रहा है; परंतु पेट को क्षुधा की यंत्रणा से बचाने के लिये वे अपनी शक्ति के बचे-खुचे पर-माणुओं से काम ले रहे हैं।

एक छोटे-से घर में रेंड़ी के तेल का दीपक टिमटिमा रहा है। उसी दीपक के पास एक फटी-टूटी चटाई पर दो स्त्रियाँ झुकी हुई बैठी हैं। उनके सामने एक नीली मख़मल का लहँगा है, और वे दोनों उस पर सलमे-सितारे का काम बना रही हैं। एक की उमर ५०

साल के लगभग है, और दूसरी की २५ के लगभग। उनकी रुक-रुककर चलनेवाली उँगलियाँ काम करने से मुँह मोड़ रही हैं, और मौन-भाषा में यह कह रही हैं कि वे इतनी थकी हुई हैं कि उनसे अधिक काम लेना उन पर अत्याचार करना है।

काम करते-करते सहसा वृद्धा ने सुई छोड़ दी। कुछ सेकिंडों तक आँखों पर हाथ रक्खे रहने के पश्चात् वह बोली—"बेटी सुशीला, अब रहने दे। बारह तो बज गए, सवेरे देखा जायगा। आज दिन-भर और इतनी रात काम करते ही बीती।" सुशीला उसी प्रकार काम करती हुई बोली—"नहीं, सवेरे नहीं; अभी तो लगे हाथों हो भी जायगा। इसे सवेरे भिजवा देना चाहिए। इसकी बनवाई मिले, तो कुछ काम चले। घर में एक पैसा तक नहीं है। कल का ख़र्च कैसे चलेगा? और, कल राधे की फ़ीस भी देनी है। कई दिन से टाल रहे हैं। कल दे ही देनी चाहिए। अम्मा, तुम्हें नींद आती हो, तो तुम सो रहो, मैं कर लूँगी। घंटे-भर का तो काम ही रह गया है।"

वृद्धा बोली—"बेटी, मेरी तो अब उँगलियाँ नहीं चलतीं। आँखों के आगे अँधेरा-सा हो रहा है, नींद के मारे बुरा हाल है। मेरी समझ में तो अब तू भी सो जा, सवेरे हम दोनो मिलकर जल्दी बना डालेंगी।"

सुशीला बोली—"नहीं अम्मा, सवेरे नहीं। सवेरे और बहुत काम करने हैं। राधे के लिये कुरता सीना है, कई दिन से मैला पहने घूम रहा है। तुम सो रहो, मैं अभी इसे पूरा किए देती हूँ।"

वृद्धा ने पुत्री की इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वह कुछ देर तक स्थिर-दृष्टि से सुशीला के मुख की ओर ताकती रही, तत्पश्चात् एक दीर्घ निःश्वास लेकर उठ खड़ी हुई। खड़े होकर उसने एक ज़ोर की अँगड़ाई लेकर जकड़े हुए शरीर को सीधा किया। इसके पश्चात् वह एक चारपाई के पास पहुँची। चारपाई

पर एक मैला बिछौना बिछा हुआ था और उस पर एक ओर एक आठ-दस वर्ष का बालक सो रहा था। वृद्धा भी उसी चारपाई पर लेट गई और कुछ ही मिनटों में सो गई। माता के सो जाने पर सुशीला उठी और उसने भी एक ज़ोर की अँगड़ाई ली, थोड़ा पानी पिया और आँखों पर पानी के दो-चार छींटे मारे। फिर वह अपने स्थान पर बैठकर काम करने लगी। पंद्रह मिनट तक तो उसके काम करने की चाल कुछ तेज़ रही, मगर उसके बाद फिर उँगलियों ने जवाब देना शुरू किया और आँखें नींद को आत्म-समर्पण कर देने के लिये हठ करने लगीं। परंतु सुशीला यह कह-कर कि थोड़ा-सा काम और है, उनसे ज़बरदस्ती काम लेने की चेष्टा करती रही। बीच में उसने एक बार फिर पानी पिया और आँखें धोईं। अंत को डेढ़ बजे के निकट सुशीला ने अंतिम टाँका लगाया; परंतु उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वह उठकर अपनी चारपाई पर जाती। काम समाप्त होते ही उसने सुई हाथ से छोड़ दी, दीपक को मुँह की फूँक मारकर बुझा दिया, और फिर उसी चटाई पर सो गई।

इतनी रात गए सोने पर भी दोनो स्त्रियों के चिंता-पूर्ण हृदयों ने उन्हें पूरी नींद न लेने दी। सवेरे छ बजे ही दोनो की नींद टूट गई। यद्यपि थका हुआ शरीर अभी और आराम करना चाहता था, आँखों पर भी नींद का पूरा अधिकार बना हुआ था, किंतु, तो भी, वे दोनो उठ बैठीं।

नित्य-कर्मों से छुट्टी पाकर, आठ बजने के कुछ पहले, सुशीला ने अपनी माता से कहा—"अम्मा! अब तुम भैया को साथ ले जाकर लहँगा दे आओ; फिर यह स्कूल चला जायगा।"

यह कहकर सुशीला ने लहँगे को एक कपड़े में लपेट दिया।

वृद्धा लहँगा लेकर राधे के साथ बाज़ार में एक दूकान पर पहुँची।

यह दूकान एक बहुत बड़ी दूकान थी और इसमें सलमे-सितारे तथा चिकन के काम के कपड़े और टोपियाँ इत्यादि बेची जाया करती थीं।

दूकान पर पहुँचकर वृद्धा ने दूकानदार को लहँगा दिया।

दूकानदार ने लहँगा खोला और उसे उलट-पलटकर देखने के बाद बोला—"कुछ अधिक अच्छा तो बना नहीं। कुछ सलमा बचा है?"

वृद्धा—"हाँ, कुछ थोड़ा-सा बचा है।"

दूकानदार—"अच्छा, उसे अभी अपने पास रहने दो; एक टोपी बनवानी है, उसी में लगा देना। हाँ, तो यह काम तुमने कुछ जी लगाकर नहीं किया।"

वृद्धा—"बेटा, पंद्रह दिन से हम दोनो इसी में लगी रहीं, तब जाकर यह आज बन पाया। अच्छा नहीं बना, तो बुरा भी नहीं है। कोई बेल-बूटा टेढ़ा-तिरछा नहीं हुआ; जैसा तुमने कहा था, वैसा ही बनाया है।"

दूकानदार—"टेढ़ा-तिरछा न सही, फिर भी अधिक अच्छा नहीं बना। ख़ैर, इसकी बनवाई दो-तीन दिन में ले जाना। एक टोपी भी लेती जाओ, उसे भी जल्दी ही बनाकर दे जाना।"

वृद्धा—"लाओ, टोपी दे दो और इसकी बनवाई भी अभी दे दो, तो बड़ा काम करो। घर में खाने-पीने को नहीं रहा; राधे की फ़ीस भी देनी है।"

दूकानदार कुछ क्षण तक सोचता रहा। तत्पश्चात् बोला—"अच्छा, तो इसकी बनवाई सात रुपए हुए, क्यों न?"

वृद्धा नम्रता-पूर्वक बोली—"अब तुम्हीं समझ लो, बेटा! मैं क्या कहूँ। पंद्रह दिन काम किया है।"

दूकानदार—"सात रुपए भी तो थोड़े नहीं हैं। तुम्हें तो हम एक-आध रुपया अधिक ही दे दिया करते हैं।"

वृद्धा—"बेटा, सात रुपए में तो पेट नहीं भरता, कुछ और दो। हम बड़े ग़रीब हैं। घर में कोई मर्द-मानस नहीं। जो आज इस लड़के का बाप या जीजा होता, तो हमें ये दिन काहे को देखने पड़ते।"

यह कहकर वृद्धा आँखों में आँसू भर लाई।

दूकानदार बोला—"अच्छा, आठ रुपए देंगे—बस, अब तो प्रसन्न हो?"

वृद्धा—"बेटा, भगवान् तुम्हें दूध-पूत से खुशी रक्खे। तुम्हारी बदौलत हमारा भी पेट भरता है।"

दूकानदार ने वृद्धा को आठ रुपए दिए। टोपी का पल्ला भी दे दिया, और उसके संबंध में आवश्यक बातें समझा दीं।

वृद्धा के चले जाने पर दूकानदार अपने मुनीम से बोला—"यह लहँगा तैयार हो गया है, इसे आज ही रायसाहब के यहाँ भिजवा देना। साथ ही इसकी बनवाई का परचा भी भेज देना।"

मुनीम ने पूछा—"कितने का परचा बनाऊँ?"

दूकानदार कुछ देर सोचकर बोला—"१४०) रु० का परचा बना देना। १००) रु० माल के और चालीस बनवाई के।"

(२)

राय ज्योतिस्वरूप के ज्येष्ठ पुत्र कृष्णस्वरूप एक अँगरेज़ी का समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। पास ही उनके दो-तीन मित्र बैठे आपस में बातें कर रहे थे। सहसा कृष्णस्वरूप ने पत्र मेज़ पर रख दिया, और बोले—"आजकल बड़ी हड़तालें हो रही हैं, यह बात क्या है? आख़िर ये मज़दूर चाहते क्या हैं? क्या इन लोगों की यह इच्छा है कि पूँजी लगानेवालों के बराबर मुनाफ़े में इन्हें भी हिस्सा मिला करे?"

एक मित्र बोला—"बराबर न सही, कम-से-कम इतना तो अवश्य मिले, जिसमें वे आराम से रह सकें।"

कृष्णस्वरूप मुँह बनाकर बोले—"यह कैसे हो सकता है? जो रुपए लगावेगा, दिमाग़ ख़र्च करेगा, वह अपनी कमाई में से देकर हानि क्यों उठाने लगा?"

दूसरा—"ख़ाली रुपए लगाने ही से उसका इतना अधिकार नहीं हो सकता कि वह मज़दूरों से कसकर काम ले और मज़दूरी इतनी दे, जैसे कुत्ते को रोटी का टुकड़ा फेंक दिया जाता है। मान लीजिए, एक मज़दूर से किसी पूँजीवाले को पाँच रुपए का लाभ होता है और वह उन पाँच रुपयों में से मज़दूर को केवल दो आने अथवा चार आने देता है, बाक़ी आप डकार जाता है, तो यह अन्याय नहीं, तो और क्या है? ख़ासकर ऐसी दशा में, जब उन दो-चार आनों से मज़दूर का पेट नहीं भरता?"

कृष्ण०—"अगर दो-चार आनों से उसका पेट नहीं भरता, तो वह ऐसी जगह मज़दूरी ही क्यों करे? वहाँ क्यों न करे, जहाँ अधिक मिले?"

तीसरा—"आप भी बच्चों की-सी बातें करते हैं। अधिक देता कौन है? सबका यही हाल है। यदि एक-आध ऐसे हुए भी, जो संतोष-जनक मज़दूरी देते हैं, तो उनसे कितने मज़दूरों का काम चल सकता है? एक-दो पूँजीवाले तो संसार-भर के मज़दूरों को रख नहीं सकते?"

कृष्ण०—"हाँ, हो सकता है। परंतु मेरी समझ में तो मज़दूर मज़दूर ही है। उसे मज़दूरी ही दी जायगी। इसके सिवा इतना अंधेर तो शायद ही कहीं होता हो कि जिस मज़दूर से पाँच रुपयों का लाभ हो, उसे केवल दो-चार आने ही दिए जायँ।"

तीसरा—"शायद ही कहीं नहीं, सब जगह होता है। यदि ऐसा न हो, तो यह कब संभव हो सकता है कि बड़ी-बड़ी कंपनियों की

पूँजी तो बढ़ती ही चली जाय और बेचारे मज़दूर वही मोची-के-मोची बने रहें।"

कृष्ण०—"रुपए लगानेवाले पूँजी बढ़ाने के लिये ही लागत लगाते हैं और मज़दूर केवल अपना पेट भरने के लिये मज़दूरी करते हैं।"

चौथा—"यदि पेट ही भर जाया करे, तो भी ठीक है; परंतु प्रश्न तो यही है कि उनका पेट भी नहीं भरता।"

दूसरा—"पेट भरने के कहीं यह अर्थ न लगा लीजिएगा कि चने चबाकर भी पेट भर सकता है। अपने लिये आप पेट भरने का यह अर्थ लगाते हैं कि अनेक प्रकार के घी से चुहचुहाते हुए पकवान हों, खट्टे-मीठे पदार्थ हों, रबड़ी हो, मलाई हो, दूध हो, और उनके लिये पेट भरने का यह अर्थ कि चने चबाकर भी पेट भर सकते हैं!"

कृष्ण०—(कुछ सोचकर) "नहीं, इतना अन्याय तो मैं कभी पसंद नहीं कर सकता। मगर साथ ही मैं यह भी ठीक नहीं समझता कि मज़दूरों का साहस इतना बढ़ाया जाय कि वे पूँजीवालों के मुनाफ़े पर दाँत लगावें।"

तीसरा—"ख़ैर, यदि अभी आप नहीं समझते, तो क्रमशः समझने लगिएगा।"

कृष्ण०—मेरी समझ में तो इन हड़तालों से मज़दूरों को सफलता नहीं मिलेगी। भला पूँजीवाले उनकी शर्तें क्यों स्वीकार करेंगे।"

चौथा—"स्वीकार न करेंगे, तो जायँगे कहाँ? जब उन्हें मज़दूर ही न मिलेंगे, तो झख मारकर स्वीकार करेंगे। परंतु इसमें बात इतनी है कि मज़दूर भी अपनी बात पर डटे रहें।"

कृष्णस्वरूप कुछ कहने ही को थे कि एक नौकर कमरे के अंदर

आया और कृष्णस्वरूप से बोला—"सरकार, गुलाबचंद-कंपनी का आदमी आया है।"

कृष्ण०—"यहाँ बुला लाओ।"

कुछ देर बाद नौकर एक चपरासी को साथ लेकर आया।

चपरासी ने सलाम करके कृष्णस्वरूप के सामने एक काग़ज़ में लिपटा हुआ पैकेट-सा रख दिया और साथ ही एक लिफ़ाफ़ा भी पैकेट के पास रख दिया।

कृष्णस्वरूप ने पैकेट खोला। पैकेट के अंदर से एक नीली मख़मल का लहँगा निकला; जिस पर नीचे से ऊपर तक ज़री का काम बना हुआ था।

कृष्णस्वरूप कुछ देर तक उसे उलट-पलटकर देखते रहे। फिर वह मित्रों से बोले—"देखिए, कितना अच्छा काम है!"

मित्रों ने भी देखकर काम की प्रशंसा की। इसके बाद कृष्ण-स्वरूप ने लिफ़ाफ़ा फाड़कर अंदर से बिल निकाला। बिल पढ़कर चपरासी से बोले—"अच्छा, रुपए शाम को या कल सबेरे भिजवा दिए जायँगे।"

"बहुत अच्छा" कहकर और सलाम करके चपरासी कमरे से चला गया।

चपरासी के चले जाने पर कृष्णस्वरूप के मित्रों ने उनसे पूछा—"यह कितने दामों का है?"

कृष्ण०—"अब यह समझ लीजिए कि सौ रुपए की तो मख़मल है दस गज़, सौ रुपए की ज़री लगी है और चालीस रुपए बनवाई के।"

दूसरा—"चालीस रुपए बनवाई! चालीस रुपए तो कुछ अधिक नहीं हैं।"

कृष्ण०—"चालीस रुपयों में केवल ज़री का काम बना है। लहँगे की सिलाई अलग है।"

तीसरा—"तब भी कुछ अधिक नहीं, काम को देखते उचित ही है।"

कृष्ण०—"हमसे अधिक ले भी नहीं सकते। ऑर्डर देकर बनवाया है। मख़मल हमारी, ज़री हमारी, लहँगे की सिलाई हमारी, ख़ाली उन्होंने बनवा दिया है।"

चौथा—"बना बनाया लेते, तो कुछ और अधिक दाम लग जाते।"

कृष्ण०—"निस्संदेह अधिक लगते; क्योंकि वे अपना मुनाफ़ा भी तो लेते। केवल ज़री के काम की बनवाई में अधिक मुनाफ़े की गुंजाइश नहीं। दो-चार रुपए बच भी गए, तो क्या।"

पहला—"इनके यहाँ कारीगर नौकर होंगे?"

कृष्ण०—"और नहीं तो क्या? नौकर न हों, तो काम कैसे चले। अच्छा बड़ा फ़र्म है, मामूली फ़र्म नहीं है।"

उपर्युक्त घटना के चार-पाँच दिन बाद कृष्णस्वरूप के एक मित्र, जिन्हें हमने ऊपर तीसरा नंबर दिया है, 'गुलाबचंद-ऐंड कंपनी' के यहाँ पहुँचे। इनका नाम व्रजविहारी था। इन्हें भी कुछ ज़री का काम बनवाना था। इसीलिये कृष्णस्वरूप से गुलाबचंद-कंपनी के संबंध में यह मालूम करके कि वह कृष्णस्वरूप का काम उचित मूल्य पर कर देती है, उन्होंने भी उक्त कंपनी से कुछ काम बनवाने का निश्चय किया।

दूकान पर पहुँचकर व्रजविहारी ने पहले उनके यहाँ का, भिन्न-भिन्न प्रकार का, काम देखा। इसके बाद उन्हें जो कुछ बनवाना था, उसके संबंध में बातचीत की। अभी वह बातचीत कर ही रहे थे कि सुशीला की माता राधे को साथ लिए आ पहुँची, और सीधे गुलाबचंद के पास आकर उसने उनके हाथ में एक टोपी दे दी। गुलाबचंद ने शीघ्रता-पूर्वक टोपी को देखकर वृद्धा से कहा—"अच्छा, अब इस समय तो तुम जाओ, कल किसी समय मिलना।"

वृद्धा ने विनीत भाव से कहा—"इसकी बनवाई दे दो, तो अच्छा हो।"

गुलाबचंद कुछ अप्रसन्न होकर बोले—"बनवाई मिल जायगी। अभी मुझे छुट्टी नहीं है। अभी तीन-चार ही दिन तो हुए रुपए ले गई थीं।"

वृद्धा—"हाँ बेटा, लहँगे की बनवाई के आठ रुपए जो तुमने दिए थे, वे सब ख़र्च हो गए। कुछ का खाने-पीने को आ गया, कुछ फुट-कर ख़र्च हो गए।"

गुलाबचंद क्रुद्ध होकर बोले—"तुमसे हिसाब कौन पूछता है? निरर्थक बक-बक लगाए हो, जाओ; अपना काम देखो। जब छुट्टी होगी, तब तुम्हारा हिसाब दे देंगे। चलो, हटो।"

वृद्धा अपना-सा मुँह लेकर धीरे-धीरे वहाँ से चल दी।

गुलाबचंद ब्रजविहारी से बोला—"हाँ, तो आप ऑर्डर दे जाइए, आपका काम बन जायगा। यह विश्वास रखिए कि दाम उचित लिए जायँगे और काम समय पर दिया जायगा।"

परंतु ब्रजविहारी किसी और ही धुन में थे। उन्होंने पूछा—"यह बुढ़िया कौन है?"

गुलाबचंद—"हमारे यहाँ का कुछ काम बनाती है। साहब, कारीगरों के मारे नाक में दम रहता है। एक-एक के दो-दो लेते हैं, फिर भी हर घड़ी छाती पर सवार होकर 'लाओ रुपया, लाओ रुपया' की धुन लगाते हैं। इनके ऊपर हमारा कुछ-न-कुछ पेशगी ही बना रहता है। पेशगी न दें, तो काम न करें। क्या करें, लाचार होकर देना ही पड़ता है।"

ब्रजविहारी कुछ सोचकर बोले—"अच्छा, मैं फिर किसी समय आऊँगा।"

यह कहकर वह शीघ्रता-पूर्वक दूकान के बाहर आए और इधर-

उधर देखने लगे। थोड़ी ही दूर पर सुशीला की माता राधे को साथ लिए धीरे-धीरे चली जा रही थी। व्रजविहारी लपककर उसके पास पहुँचे। पास जाकर उन्होंने वृद्धा से कहा—"क्यों माईजी, तुम कहाँ रहती हो?"

वृद्धा ने पहले कुछ देर तक व्रजविहारी को नीचे से ऊपर तक देखा, फिर बोली—"यहीं चावलवाली गली में रहती हूँ।"

व्रज०—"तुम ज़री का काम बनाती हो?"

वृद्धा—"हाँ बेटा, बनाती तो हूँ। क्या करें, यह पेट सब कुछ कराता है। घर में कोई कमानेवाला नहीं है, इसी से पेट पालती हूँ।"

व्रज०—"तुम्हारे और कोई नहीं है?"

वृद्धा—"एक विधवा लड़की है, और यह एक लड़का है। और कोई नहीं है।"

व्रज०—"मुझे भी कुछ काम बनवाना है, बना दोगी?"

वृद्धा—"हाँ, बना क्यों न देंगी? हमारा तो पेट इसी से भरता है।"

व्रज०—"पर मुझे अच्छा काम बनवाना है, ऐसा-वैसा नहीं।"

वृद्धा—"अच्छा भी बना देंगी। अभी तीन-चार दिन हुए, गुलाबचंद को एक नीली मख़मल के लहँगे पर ज़री का काम बनाकर दिया है। उसे तुम देखते, तो जान जाते कि हम कैसा काम बनाती हैं।"

व्रजविहारी कुछ चौंककर बोले—"नीली मख़मल का लहँगा?"

वृद्धा—"हाँ, नीली मख़मल का। उस पर बड़े-बड़े बूटे और बेल बनाई गई है।"

व्रज०—"कितने दिन हुए?"

वृद्धा—"बनाकर दिए हुए अभी तीन ही चार दिन हुए हैं।"

व्रज०—"रायसाहबवाला तो नहीं ?"

वृद्धा—"अब यह तो मैं जानती नहीं। गुलाबचंद ने बनवाया था, चाहे जिसका हो।"

व्रज०—"उसकी बनवाई तुम्हें क्या मिली थी ?"

वृद्धा—"आठ रुपए।"

व्रजविहारी कुछ आश्चर्यान्वित होकर बोले—"आठ रुपए। तो वह न होगा, कोई और होगा। उसकी बनवाई तो चालीस रुपए थे।"

व्रजविहारी ने अपने काम के संबंध में समझाकर कहा—"इसकी बनवाई क्या लोगी ?"

वृद्धा—"जो गुलाबचंद देते हैं, वही तुम भी दे देना।"

व्रज०—"वह क्या देते हैं ?"

वृद्धा—"इतने काम के पाँच रुपए देते हैं।"

व्रजविहारी अत्यंत विस्मित होकर बोले—"पाँच रुपए !"

वृद्धा—"हाँ, पाँच रुपए। मैं तुमसे झूठ न बोलूँगी। पाँच रुपए देते हैं, कम नहीं देते।"

व्रज०—"पर वह तो इसकी बनवाई—।"

इतना कहकर व्रजविहारी कुछ झिझके ; परंतु वैसे ही बात का रुख़ बदलकर बोले—"अच्छा, तुम अपना घर दिखा दो, मैं तुम्हें सब सामान भिजवा दूँगा।"

सुशीला की माता ने व्रजविहारी का प्रस्ताव स्वीकार किया और उनको साथ लेकर अपने घर पहुँची। घर के द्वार पर पहुँचकर बोली—"यहीं भिजवा देना।"

व्रजविहारी ने जेब से चार रुपए निकालकर कहा—"गुलाबचंद से जो कुछ तुमने कहा था, उससे मुझे पता लगा कि इस समय

तुम्हें रुपयों की आवश्यकता है। इसलिये अपने काम की बनवाई में से चार रुपए तुम्हें पेशगी देता हूँ।"

वृद्धा रुपए लेते हुए कुछ झिझकी; परंतु ब्रजविहारी ज़बरदस्ती उसके हाथ में रुपए रखकर चल खड़े हुए।

(२)

सुशीला की माता के घर से लौटकर ब्रजविहारी सीधे कृष्णस्वरूप के पास पहुँचे और बोले—"कुछ देर के लिये आप मुझे वह लहँगा दे दीजिए, जो परसों बनकर आया है।"

कृष्णस्वरूप मुस्किराकर बोले—"क्यों? वैसा बनवाने की इच्छा है क्या?"

ब्रज०—"हाँ, कुछ ऐसी ही इच्छा है।"

कृष्णस्वरूप ने लहँगा मँगवा दिया।

ब्रजविहारी लहँगा तथा अपने काम के लिये आवश्यक सामान लेकर फिर सुशीला के घर पहुँचे। जाते ही पहले उन्होंने लहँगा दिखलाकर पूछा—"यही लहँगा तुम्हारा बनाया हुआ है?"

वृद्धा तथा सुशीला एक स्वर से बोलीं—"हाँ, यही लहँगा है।" यह सुनकर ब्रजविहारी के हृदय में चोट लगी। वह सोचने लगे—केवल इसके बनवाने की दलाली में गुलाबचंद बत्तीस रुपए खा गया और जिन्होंने ख़ून-पसीना एक करके बनाया, उन्हें केवल आठ ही रुपए दिए!

ब्रजविहारी ने पूछा—"यह लहँगा तुमने कितने दिनों में बनाया था?"

वृद्धा ने कहा—"पंद्रह दिन तक हम दोनो मा-बेटी लगी रही थीं, तब जाकर कहीं यह बन पाया था। रात के बारह-बारह, एक-एक बजे तक काम किया था।"

ब्रजविहारी के अंतस्तल से एक आह निकली। उन्होंने सोचा

यदि इनको इनके परिश्रम का आधा लाभ भी मिल जाया करे, तो इनकी दरिद्रता में बहुत कुछ कमी हो सकती है।

व्रजविहारी ने पूछा—"जानती हो इसकी बनवाई गुलाबचंद ने क्या ली है?"

वृद्धा ने कहा—"हम क्या जानें बेटा?"

व्रज०—"यह एक मेरे मिलनेवाले के घर का लहँगा है। गुलाबचंद ने उनसे इसकी बनवाई चालीस रुपए लिए हैं।"

सुशीला तथा उसकी माता दोनो अवाक् होकर व्रजविहारी का मुँह ताकने लगीं। कुछ देर तक दोनो चुप रहीं, फिर सुशीला एक लंबी साँस लेकर बोली—"चाहे जो ले, हमसे क्या? हमें जो देता है, हम तो उतना ही जानती हैं। इतना भी देता है, ग़नीमत है।"

व्रज०—"तो तुम उसके लिये काम क्यों करती हो? ख़ुद इधर-उधर से काम क्यों नहीं ले आतीं?"

वृद्धा—"हमने पहले यही करके देखा था; पर किसी ने हमें नहीं दिया। लोग कहने लगे—तुम्हें हम क्या जानें? हमारा माल लेकर चल दो, तो हम क्या करें? हमने यह भी कहा कि तुम्हारे घर बैठकर बना दिया करें, पर इस पर भी कोई राज़ी नहीं हुआ।"

व्रज०—"गुलाबचंद तुम्हें पेशगी भी देता रहता है?"

वृद्धा—"कभी जब बहुत हाथ-पैर जोड़ती हूँ, तो दो-चार रुपए दे देता है और कभी नहीं भी देता है।"

व्रज०—"अच्छा, मैं अपने काम की बनवाई तुम्हें पंद्रह रुपए दूँगा। चार रुपए दे चुका हूँ, पाँच रुपए ये और लो, बाक़ी छ रुपए काम बन जाने पर दूँगा। अब एक काम यह करना कि गुलाबचंद का काम इतनी कम मज़दूरी पर कभी मत करना। कम-से-कम इसका ढाईगुना दे, तब करना।"

पाँच रुपए के काम के पंद्रह रुपए, और उसमें से नौ रुपए पेशगी मिलते देखकर मा-बेटी के नेत्रों में कृतज्ञता के आँसू भर आए।

वृद्धा बोली—"यह तो बेटा, तुमने जो कहा, सो ठीक है; पर गुलाबचंद ऐसा क्यों करेगा ?"

ब्रज०—"न करे, तो तुम भी उसका काम न करना।"

वृद्धा—"काम न करेंगे, तो खायँगे क्या ?"

ब्रजविहारी यह सुनकर चिंता में पड़ गए। कुछ देर तक सोचकर बोले—"इसके लिये तुम मत घबराना। मैं तुम्हें काम दिया करूँगा।"

यह कहकर ब्रजविहारी उनसे विदा हुए और सीधे कृष्णस्वरूप के पास पहुँचे। उनसे सारा कच्चा चिट्ठा कहकर बोले—"देख ली आपने गुलाबचंद की भलमनसी ? आप उसे बड़ा भला आदमी बताते थे ?"

कृष्णस्वरूप भी सुनकर चकित रह गए। बोले—"मुझे स्वप्न में भी यह आशा न थी, कि यह इस प्रकार ग़रीबों के गले काटता होगा।"

ब्रज०—"यह इतना मोटा कैसे हुआ ? इसी तरह ग़रीबों के गले काट-काटकर ! इसी की बदौलत ये लोग इतने बड़े धन्नासेठ बने बैठे हैं, और गाड़ियों पर चढ़े-चढ़े घूमते हैं। यह तो केवल एक की बात है—सभी ऐसा करते हैं।"

कृष्ण०—"क्यों जी, यह अपने सब कारीगरों के गले ऐसे ही काटता होगा ?"

ब्रज०—"और नहीं तो क्या ? यह तो केवल इन्हीं स्त्रियों का एक उदाहरण है। उसके पास तो बीस-पचीस कारीगर होंगे। उस रोज़ आप इन पूँजीवालों का पक्ष ले रहे थे। देख ली इनकी करतूत ? यह तो एक छोटा-सा उदाहरण आपको मिला है। इसी

से आप बड़ी-बड़ी मिलों और कारख़ानों का अनुमान भी कर सकते हैं। ख़ैर, यह तो जो है, सो है, अब मैंने इस गुलाबचंद के होश ठिकाने लाने का निश्चय किया है। आपको इस काम में मेरी सहायता करनी पड़ेगी।"

कृष्ण०—"कहो।"

व्रज—"मेरा विचार एक दूकान खोलने का है। उसमें यह नियम रक्खा जाय कि जो कारीगर जितने का काम करे, उसका आधा हिस्सा कारीगर को दिया जाय, और आधा फ़र्म ले। इसके सिवा साल-भर में जो लाभ हो, उसमें से भी उनको कुछ दिया जाय।"

कृष्ण०—"स्कीम तो अच्छी है।"

व्रज०—"अच्छी हो या बुरी, मैं इसे अवश्य करूँगा और इसमें आपको मेरी सहायता करनी पड़ेगी।"

कृष्ण०—"मैं हाज़िर हूँ, जैसा कहोगे, वैसा करूँगा। इस घटना को सुनकर मुझे भी इन पूँजीवालों से घृणा हो गई है।"

(४)

उपर्युक्त घटना के एक महीने बाद "कृष्ण ऐंड कंपनी एंब्रायडर्स" नाम का एक बड़ा फ़र्म खुल गया। इस फ़र्म ने एक नोटिस निकाला, जिसमें कारीगरों के लिये काम करने की शर्तें छपी हुई थीं। वे शर्तें इतनी सुविधा-जनक थीं कि कृष्ण ऐंड कंपनी को धड़ाधड़ कारीगर मिलने लगे। क्रमशः इसका पता गुलाबचंद ऐंड कंपनी के कारीगरों को लगा। गुलाबचंद से उन्हें जो मज़दूरी मिलती थी, उससे कृष्ण ऐंड कंपनी की मज़दूरी का मिलान किया, तो तिगुने का अंतर पाया। इस हिसाब से गुलाबचंद के यहाँ जो एक रुपया मिलता था, तो कृष्ण ऐंड कंपनी के यहाँ तीन रुपए मिलने की बात थी। कुछ लोग ऐसे थे, जो गुलाबचंद का पेशगी रुपए खाए बैठे थे। अतएव जब तक वे रुपए अदा न कर देते, तब तक गुलाबचंद का काम

करना छोड़ नहीं सकते थे। ऐसों में भी बहुतों ने ऋण लेकर गुलाबचंद का रुपया अदा कर दिया। जिन्हें ऋण नहीं मिला, उन्होंने अपनी कठिनाई कृष्ण ऐंड कंपनी के सामने रक्खी। कृष्ण ऐंड कंपनी ने तुरंत उनका ऋण चुकाकर उनको गुलाबचंद के पंजे से छुड़ा लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि गुलाबचंद के सब कारीगर कृष्ण ऐंड कंपनी के हाथ में आ गए। गुलाबचंद ने बड़ी चेष्टा की, कारीगरों को कृष्ण ऐंड कंपनी के यहाँ की सारी सुविधाएँ देने का प्रलोभन दिया, परंतु लोगों को उससे इतनी घृणा हो गई थी कि उन्होंने किसी तरह उसका काम करना स्वीकार नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि गुलाबचंद का काम फेल हो गया। इधर कृष्ण ऐंड कंपनी का काम दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति करने लगा। उसके कारीगर चारो ओर उसका गुन-गान करते फिरते थे। इसका प्रभाव जनता पर भी अच्छा पड़ा। जनता को कृष्ण ऐंड कंपनी पर अटल विश्वास हो गया।

* * *

एक वर्ष के बाद की बात है—

"बेटी सुशीला! अब तो राधे के ब्याह की तैयारी करनी चाहिए।"

एक छोटे-से, परंतु साफ़-सुथरे मकान की एक दालान में, एक मोटे गद्दे पर, बैठी हुई सुशीला कारचोबी का काम कर रही है। पास ही एक चारपाई पर सुशीला की माता माला लिए बैठी है। माला सटकाते-सटकाते एकाएक वृद्धा ने सुशीला से कहा—"बेटी सुशीला! अब तो राधे के ब्याह की तैयारी करनी चाहिए।"

सुशीला ने मुस्किराकर कहा—"अभी से! अभी तो यह बारह ही बरस का है।"

वृद्धा—"और क्या बुढ़ापे में ब्याह होगा? मेरी यह अभिलाष

(अभिलाषा) है कि मैं राधे की बहू का मुँह देखकर मरूँ। मेरे इतने भाग कहाँ जो नाती-पोतों का मुँह देखूँ ?"

सुशीला हँसकर बोली—"क्यों, भाग होने को क्या हुआ ?"

वृद्धा—"ना बेटी, मेरे ऐसे भाग नहीं।"

ठीक उसी समय राधे पुस्तकें बग़ल में दाबे स्कूल से आ गया, और किताबें एक ओर रखकर बोला—"जीजी, बड़ी भूख लगी है, खाने को दो।"

सुशीला ने काम छोड़ दिया और राधे को भोजन दिया।

राधे भोजन में जुटकर बोला—"जीजी, आज बिरजू बाबू (ब्रज-बिहारी) कहते थे कि तू जब बड़ा हो जायगा, तो तुझे हम अपनी दूकान पर रख लेंगे।"

सुशीला—"फिर क्या, जल्दी-जल्दी पढ़ ले।"

राधे—"जीजी, मैं यह दर्जा पास कर लूँगा, तो फिर नई-नई किताबें लेनी पड़ेंगी।"

सुशीला—"तो फिर क्या हुआ, ले देंगे। अब हमें क्या कमी है ? बिरजू बाबू की दूकान बनी रहे और हमारे हाथ-पैर चलते रहें, अब हमें किसी बात की कमी नहीं है।"

यह कहकर सुशीला फिर अपने स्थान पर आकर काम करने लगी।"

ताई

(१)

"ताऊजी हमें लेलगाली (रेलगाड़ी) ला दोगे ?"—कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौड़ा।

बाबू साहब ने दोनो बाहें फैलाकर कहा—"हाँ बेटा, ला देंगे।"

उनके इतना कहते-कहते बालक उनके निकट आ गया। उन्होंने बालक क गोद में उठा लिया, और उसका मुख चूमकर बोले—"क्या करेगा रेलगाड़ी ?"

बालक बोला—"उसमें बैठके बली दूल जायँगे। हम भी जायँगे, चुन्नी को भी ले जायँगे। बाबूजी को नहीं ले जायँगे। हमें लेलगाली नहीं ला देते। ताऊजी, तुम ला दोगे, तो तुम्हें ले जायँगे।"

बाबू—"और किसे ले जायगा ?"

बालक दम-भर सोचकर बोला—"बछ, और किछी को नहीं ले जायँगे।"

पास ही बाबू रामजीदास की अर्द्धांगिनी बैठी थीं। बाबू साहब ने उनकी ओर इशारा करके कहा—"और अपनी ताई को नहीं ले जायगा ?"

बालक कुछ देर तक अपनी ताई की ओर देखता रहा। ताईजी उस समय कुछ चिढ़ी हुई-सी बैठी थीं। बालक को उनके मुख का वह भाव अच्छा न लगा। अतएव वह बोला—"ताई को नहीं ले जायँगे।"

ताईजी सुपारी काटती हुई बोलीं—"अपने ताऊजी ही को ले जा! मेरे ऊपर दया रख!"

ताई ने यह बात बड़ी रुखाई के साथ कही। बालक ताई के शुष्क व्यवहार को तुरत ताड़ गया। बाबू साहब ने फिर पूछा—"ताई को क्यों नहीं ले जायगा?"

बालक—"ताई हमें प्याल (प्यार) नहीं कलतीं।"

बाबू—"जो प्यार करें, तो ले जायगा?"

बालक को इसमें कुछ संदेह था। ताई का भाव देखकर उसे यह आशा नहीं थी कि वह प्यार करेंगी। इससे बालक मौन रहा।

बाबू साहब ने फिर पूछा—"क्यों रे, बोलता नहीं? ताई प्यार करें, तो रेल पर बिठाकर ले जायगा?"

बालक ने ताऊजी को प्रसन्न करने के लिये केवल सिर हिलाकर स्वीकार कर लिया; परंतु मुख से कुछ नहीं कहा।

बाबू साहब उसे अपनी अर्द्धांगिनीजी के पास ले जाकर उनसे बोले—"लो, इसे प्यार कर लो, तो यह तुम्हें भी ले जायगा।" परंतु बच्चे की ताई श्रीमती रामेश्वरी को पति की यह चुहलबाज़ी अच्छी न लगी। वह तुनककर बोलीं—"तुम्हीं रेल पर बैठकर जाओ, मुझे नहीं जाना है।"

बाबू साहब ने रामेश्वरी की बात पर ध्यान नहीं दिया। बच्चे को उनकी गोद में बिठाने की चेष्टा करते हुए बोले—"प्यार नहीं करोगी, तो फिर रेल में नहीं बिठावेगा।—क्यों रे मनोहर?"

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया। उधर ताई ने मनोहर को अपनी गोद से ढकेल दिया। मनोहर नीचे गिर पड़ा। शरीर में तो चोट नहीं लगी; पर हृदय में चोट लगी। बालक रो पड़ा।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा लिया, चुमकार-पुचकार-

कर चुप किया और तत्पश्चात् उसे कुछ पैसे तथा रेलगाड़ी ला देने का वचन देकर छोड़ दिया। बालक मनोहर भय-पूर्ण दृष्टि से अपनी ताई की ओर ताकता हुआ उस स्थान से चला गया।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से बोले—"तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है? बच्चे को ढकेल दिया! जो उसके चोट लग जाती तो?"

रामेश्वरी मुँह मटकाकर बोलीं—"लग जाती, तो अच्छा होता। क्यों मेरी खोपड़ी पर लादे देते थे? आप ही तो उसे मेरे ऊपर डालते थे और आप ही अब ऐसी बातें करते हैं।"

बाबू साहब कुढ़कर बोले—"इसी को खोपड़ी पर लादना कहते हैं?"

रामेश्वरी—"और नहीं किसे कहते हैं? तुम्हें तो अपने आगे और किसी का दुख-सुख सूझता ही नहीं। न-जाने कब किसका जी कैसा होता है। तुम्हें इन बातों की कोई परवा ही नहीं, अपना चुहल से काम है।"

बाबू—"बच्चों की प्यारी-प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा जी हो, प्रसन्न हो जाता है। मगर तुम्हारा हृदय न-जाने किस धातु का बना हुआ है?"

रामेश्वरी—"तुम्हारा हो जाता होगा। और, होने को होता भी है, मगर वैसा बच्चा भी तो हो! पराए धन से भी कहीं घर भरता है?"

बाबू साहब कुछ देर चुप रहकर बोले—"यदि अपना सगा भतीजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं समझता कि अपना धन किसे कहेंगे?"

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित होकर बोलीं—"बातें बनाना बहुत आता है। तुम्हारा भतीजा है, तुम चाहे जो समझो, पर मुझे ये बातें

अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग ही फूटे हैं! नहीं तो ये दिन काहे को देखने पड़ते! तुम्हारा चलन तो दुनिया से निराला है। आदमी संतान के लिये न-जाने क्या-क्या करते हैं—पूजा-पाठ कराते हैं, व्रत रखते हैं, पर तुम्हें इन बातों से क्या काम? रात-दिन भाई-भतीजों में मगन रहते हो।"

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। उन्होंने कहा—"पूजा-पाठ, व्रत, सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग्य में नहीं, वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरा तो यह अटल विश्वास है।"

श्रीमतीजी कुछ-कुछ रुआसे स्वर में बोलीं—"इसी विश्वास ने तो सब चौपट कर रक्खा है! ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ जायँ, तो काम कैसे चले। सब विश्वास पर ही बैठे रहें, आदमी काहे को किसी बात के लिये चेष्टा करे।"

बाबू साहब ने सोचा कि मूर्ख स्त्री के मुँह लगना ठीक नहीं। अतएव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहाँ से टल गए।

(२)

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी है। इनके एक छोटा भाई है। उसका नाम है कृष्णदास। दोनो भाइयों का परिवार एक ही में है। बाबू रामजीदास की आयु ३५ वर्ष के लगभग है, और छोटे भाई कृष्णदास की २१ के लगभग। रामजीदास निस्संतान हैं। कृष्णदास के दो संतानें हैं। एक पुत्र—वही पुत्र, जिससे पाठक परिचित हो चुके हैं—और एक कन्या है। कन्या की आयु दो वर्ष के लगभग है।

रामजीदास अपने छोटे भाई और उनकी संतान पर बड़ा स्नेह रखते हैं—ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव से उन्हें अपनी संतान-हीनता कभी खटकती ही नहीं। छोटे भाई की संतान को वह अपनी ही

संतान समझते हैं। दोनो बच्चे भी रामजीदास से इतने हिले हैं कि उन्हें अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परंतु रामजीदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी संतान-हीनता का बड़ा दुःख है। वह दिन-रात संतान ही के सोच में घुला करती हैं। छोटे भाई की संतान पर पति का प्रेम उनकी आँखों में काँटे की तरह खटकता है। रात को भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर रामजीदास शय्या पर लेटे हुए शीतल और मंद वायु का आनंद ले रहे थे। पास ही दूसरी शय्या पर रामेश्वरी, हथेली पर सिर रक्खे, किसी चिंता में डूबी हुई थीं। दोनो बच्चे अभी बाबू साहब के पास से उठकर अपनी मा के पास गए थे।

बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा—"आज तुमने मनोहर को इस बुरी तरह से ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दुःख है। कभी-कभी तो तुम्हारा व्यवहार बिलकुल ही अमानुषिक हो उठता है।"

रामेश्वरी बोलीं—"तुम्हीं ने मुझे ऐसा बना रक्खा है। उस दिन उस पंडित ने कहा था कि हम दोनो के जन्म-पत्र में संतान का जोग है और उपाय करने से संतान हो भी सकती है। उसने उपाय भी बताए थे; पर तुमने उनमें से एक भी उपाय करके न देखा। बस, तुम तो इन्हीं दानो में मगन हो। तुम्हारी इस बात से रात-दिन मेरा कलेजा सुलगता रहता है। आदमी उपाय तो करके देखता है, फिर होना न होना तो भगवान् के अधीन है।"

बाबू साहब हँसकर बोले—"तुम्हारी-जैसी सीधी स्त्री भी....क्या कहूँ, तुम इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती हो, जो दुनिया-भर के झूठे और धूर्त हैं! ये झूठ बोलने ही की रोटियाँ खाते हैं।"

रामेश्वरी तुनककर बोलीं—"तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता है। ये पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं? पंडित कुछ अपनी

तरफ़ से तो बनाकर कहते ही नहीं हैं। शास्त्र में जो लिखा है, वही वे भी कहते हैं। शास्त्र झूठा है, तो वे भी झूठे हैं। अँगरेज़ी क्या पढ़ी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। जो बातें बाप-दादे के ज़माने से चली आई हैं, उन्हें भी झूठा बताते हैं।"

बाबू साहब—"तुम बात तो समझती नहीं, अपनी ही ओटे जाती हो। मैं यह नहीं कहता कि ज्योतिष-शास्त्र झूठा है। संभव है, वह सच्चा हो, परंतु ज्योतिषियों में अधिकांश झूठे होते हैं। उन्हें ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं, दो-एक छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़कर ज्योतिषी बन बैठते और लोगों को ठगते फिरते हैं। ऐसी दशा में उनकी बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ?"

रामेश्वरी—"हूँ, सब झूठे ही हैं, तुम्हीं एक बड़े सच्चे हो! अच्छा, एक बात पूछती हूँ। भला, तुम्हारे जी में संतान की इच्छा क्या कभी नहीं होती ?"

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकड़ा। वह कुछ देर चुप रहे। तत्पश्चात् एक लंबी साँस लेकर बोले—"भला, ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसके हृदय में संतान का सुख देखने की इच्छा न हो? परंतु किया क्या जाय? जब नहीं है, और न होने की कोई आशा ही है, तब उसके लिये व्यर्थ चिंता करने से क्या लाभ? इसके सिवा, जो बात अपनी संतान से होती, वही भाई की संतान से भी हो रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता, उतना ही इन पर भी है, जो आनंद उनकी बाल-क्रीड़ा से आता, वही इनकी क्रीड़ा से भी आ रहा है। फिर मैं नहीं समझता कि चिंता क्यों की जाय ?"

रामेश्वरी कुढ़कर बोलीं—"तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूँ। इसी से तो रात-दिन जला करती हूँ। भला यह तो बताओ कि तुम्हारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा ?"

बावू साहब हँसकर बोले—"अरे, तुम भी कहाँ की लाईं। नाम संतान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृत से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने दिन हो चुके? इसी प्रकार जितने महात्मा हो गए हैं, उन सबका नाम क्या उनकी संतान ही की बदौलत चल रहा है? सच पूछो, तो संतान से जितनी नाम चलने की आशा रहती, उतनी ही डूब जाने की भी संभावना रहती है। परंतु सुकृत एक ऐसी वस्तु है, जिससे नाम बढ़ने के सिवा घटने की कभी आशंका रहती ही नहीं। हमारे शहर में राय गिरधारीलाल कितने नामी आदमी थे? उनके संतान कहाँ है? पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला जा रहा है, और न-जाने कितने दिनों तक चला जायगा।"

रामेश्वरी—"शास्त्र में लिखा है कि जिसके पुत्र नहीं होता, उसकी मुक्ति नहीं होती?"

बावू—"मुक्ति पर मुझे विश्वास ही नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम? यदि मुक्ति होना मान भी लिया जाय, तो यह कैसे माना जा सकता है कि सब पुत्रवानों की मुक्ति हो ही जाती है? मुक्ति का भी क्या सहज उपाय है। ये जितने पुत्रवाले हैं, सभी की तो मुक्ति हो जाती होगी?"

रामेश्वरी निरुत्तर होकर बोलीं—"अब तुमसे कौन बकवाद करे। तुम तो अपने सामने किसी की मानते ही नहीं।"

(२)

मनुष्य का हृदय बड़ा ममत्व-प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी ही सुंदर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता। किंतु भद्दी-से-भद्दी और बिलकुल काम में न आनेवाली वस्तु को भी यदि मनुष्य अपनी

समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई वस्तु कितनी ही मूल्य-वान् क्यों न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सुंदर क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं करता, इसलिये कि वह वस्तु उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी हो, काम में न आनेवाली हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य को दुःख होता है, इसलिये कि वह अपनी चीज़ है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज़ से प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा में भी जब तक मनुष्य उस वस्तु को अपनी बनाकर नहीं छोड़ता, अथवा अपने हृदय में यह विचार नहीं दृढ़ कर लेता कि यह वस्तु मेरी है, तब तक उसे संतोष नहीं होता। ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता है, और प्रेम से ममत्व। इन दोनो का साथ चोली-दामन का-सा है। ये कभी पृथक् नहीं किए जा सकते।

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं; परंतु उनका विकास नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के ऊपर लानेवाला कोई नहीं। इसीलिये उनका हृदय उन बच्चों की ओर खिंचता तो था, परंतु जब उन्हें ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के हैं, तब उनके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी। विशेषकर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ जाती थी, जब वह यह देखती थीं कि उनके पतिदेव उन बच्चों पर प्राण देते हैं, जो उनके (रामेश्वरी के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थीं। पास ही उनकी देवरानी भी बैठी थीं। दोनो बच्चे छत पर

दौड़-दौड़कर खेल रहे थे। रामेश्वरी उनका खेल देख रही थीं। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना-कूदना बड़ा भला मालूम हो रहा था। हवा में उड़ते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले हुए उनके नन्हें-नन्हें मुख, उनकी प्यारी-प्यारी तोतली बातें, उनका चिल्लाना, भागना, लोट जाना इत्यादि क्रीड़ाएँ उनका हृदय शीतल कर रही थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेश्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे-पीछे मनोहर भी दौड़ता हुआ आया, और वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेष भूल गईं। उन्होंने दोनो बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो बच्चों के लिये तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनो को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विश्वास होता कि रामेश्वरी ही उन बच्चों की माता हैं।

दोनो बच्चे बड़ी देर तक उनकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहाँ से उठकर चली गई।

"मनोहर, ले रेलगाड़ी।"—कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आए। उनका स्वर सुनते ही दोनो बच्चे रामेश्वरी की गोद से तड़पकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनो को खूब प्यार किया, फिर बैठकर रेलगाड़ी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद-सी टूटी। पति को बच्चों में मगन होते देखकर उनकी भौहें तन गईं। बच्चों के प्रति हृदय में फिर वही घृणा और द्वेष का भाव जग उठा।

बच्चों को रेलगाड़ी देकर बाबू साहब रामेश्वरी के पास आए, और मुस्किराकर बोले—"आज तो तुम बच्चों को बड़ा प्यार कर

रही थीं, इससे मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी इनके प्रति कुछ प्रेम अवश्य है।"

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हें अपनी कमज़ोरी पर बड़ा दुःख हुआ। केवल दुःख ही नहीं, अपने ऊपर क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ़ गया। उनकी कमज़ोरी पति पर प्रकट हो गई, यह बात उनके लिये असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—"इसीलिये मैं कहता हूँ कि अपनी संतान के लिये सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये ही अपनी संतान प्रतीत होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।"

यह बात बाबू साहब ने नितांत शुद्ध हृदय से कही थी; परंतु रामेश्वरी को इसमें व्यंग्य की तीक्ष्ण गंध मालूम हुई। उन्होंने कुढ़कर मन में कहा—इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जायँ, पाप कटे! आठो पहर आँखों के सामने रहने से प्यार करने को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—"अब झेंपने से क्या लाभ? अपने प्रेम को छिपाने की चेष्टा करना व्यर्थ है, छिपाने की आवश्यकता भी नहीं।"

रामेश्वरी जल-भुनकर बोलीं—"मुझे क्या पड़ी है, जो मैं प्रेम करूँगी? तुम्हीं को मुबारक रहे! निगोड़े आप ही आ-आके घुसते हैं। एक घर में रहने से कभी-कभी हँसना-बोलना ही पड़ता है। अभी परसों ज़रा यों ही ढकेल दिया, उस पर तुमने सैकड़ों बातें सुनाईं। संकट में प्राण हैं, न यों चैन, न त्यों चैन।"

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—"न-जाने कैसे हृदय की स्त्री है। अभी अच्छी-

ख़ासी बैठी बच्चों को प्यार कर रही थी, मेरे आते ही गिरगिट की तरह रंग बदलने लगी। अपनी इच्छा से चाहे जो करे, पर मेरे कहने से बल्लियों उछलती है। न-जाने मेरी बातों में कौन-सा विष घुला रहता है। यदि मेरा कहना ही बुरा मालूम होता है, तो न कहा करूँगा। पर इतना याद रक्खो कि अब जो कभी इनके विषय में निगोड़े-सिगोड़े इत्यादि अपशब्द निकाले, तो अच्छा न होगा! तुमसे मुझे ये बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं।"

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को वह आँखों द्वारा निकालने लगीं।

जैसे-ही-जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनो बच्चों पर बढ़ता जाता था, वैसे-ही-वैसे रामेश्वरी के द्वेष और घृणा की मात्रा भी बढ़ती जाती थी। प्रायः बच्चों के पीछे पति-पत्नी में कहा-सुनी हो जाती थी, और रामेश्वरी को पति के कटु वचन सुनने पड़ते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कारण ही वह पति की नज़र से गिरती जा रही हैं, तब उनके हृदय में बड़ा तूफ़ान उठा। उन्होंने सोचा—"पराए बच्चों के पीछे यह मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, मुझे हर समय बुरा-भला कहा करते हैं। इनके लिये ये बच्चे ही सब कुछ हैं, मैं कुछ भी नहीं! दुनिया मरती जाती है, पर इन दोनो को मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गए। न ये होते, न मुझे ये दिन देखने पड़ते। जिस दिन ये मरेंगे, उस दिन घी के दिए जलाऊँगी। इन्होंने ही मेरा घर सत्यानास कर रक्खा है।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन नियमानुसार रामेश्वरी छत पर अकेली बैठी हुई थीं। उनके हृदय में अनेक प्रकार के विचार आ रहे थे। विचार और कुछ नहीं, वही अपनी निज की संतान का अभाव, पति का भाई की संतान के प्रति अनुराग इत्यादि।

कुछ देर बाद जब उनके विचार स्वयं उन्हीं को कष्टदायक प्रतीत होने लगे, तब वह अपना ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिये उठकर टहलने लगीं।

वह टहल ही रही थीं कि मनोहर दौड़ता हुआ आया। मनोहर को देखकर उनकी भ्रुकुटी चढ़ गई, और वह छत की चहारदीवारी पर हाथ रखकर खड़ी हो गईं।

संध्या का समय था। आकाश में रंग-बिरंगी पतंगें उड़ रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खड़ा पतंगों को देखता और सोचता रहा कि कोई पतंग कटकर उसकी छत पर गिरे, तो क्या ही आनंद आवे। देर तक पतंग गिरने की आशा करने के बाद वह दौड़कर रामेश्वरी के पास आया, और उनकी टाँगों में लिपटकर बोला—"ताई, हमें पतंग मँगा दो।"

रामेश्वरी ने झिड़ककर कहा—"चल हट, अपने ताऊ से माँग जाकर।"

मनोहर कुछ अप्रतिभ होकर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर बाद उससे फिर न रहा गया। इस बार उसने बड़े लाड़ में आकर अत्यंत करुण स्वर में कहा—"ताई, पतंग मँगा दो; हम भी उड़ावेंगे।"

इस बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वह कुछ देर तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखती रहीं। फिर उन्होंने एक लंबी साँस लेकर मन-ही-मन कहा—यदि यह मेरा पुत्र होता, तो आज मुझसे बढ़कर भागवान् स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़मारा कितना सुंदर है, और कैसी प्यारी-प्यारी बातें करता है—यही जी चाहता है कि उठाकर छाती से लगा लें।

यह सोचकर वह उसके सिर पर हाथ फेरनेवाली ही थीं कि इतने

में मनोहर उन्हें मौन देखकर बोला—"तुम हमें पतंग नहीं मँगवा दोगी, तो ताऊजी से कहकर तुम्हें पिटवावेंगे।"

यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में भी बड़ी मधुरता थी, तथापि रामेश्वरी का मुख क्रोध के मारे लाल हो गया। वह उसे झिड़ककर बोलीं—"जा, कह दे अपने ताऊजी से। देखूँ, वह मेरा क्या कर लेंगे।"

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया, और फिर सतृष्ण नेत्रों से आकाश में उड़ती हुई पतंगों को देखने लगा।

इधर रामेश्वरी ने सोचा—यह सब ताऊजी के दुलार का फल है कि बालिश्त-भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे, इस दुलार पर बिजली टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतंग कटकर उसी छत की ओर आई, और रामेश्वरी के ऊपर से होती हुई छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चहारदीवारी थी। जहाँ रामेश्वरी खड़ी हुई थीं, केवल वहीं पर एक द्वार था, जिससे छज्जे पर आ-जा सकते थे। रामेश्वरी उस द्वार से सटी हुई खड़ी थीं। मनोहर ने पतंग को छज्जे पर जाते देखा। पतंग पकड़ने के लिये वह दौड़कर छज्जे की ओर चला। रामेश्वरी खड़ी देखती रहीं। मनोहर उनके पास से होकर छज्जे पर चला गया, और उनसे दो फ़ीट दूर खड़े होकर पतंग देखने लगा। पतंग छज्जे पर से होती हुई नीचे, घर के आँगन में, जा गिरी। एक पैर छज्जे की मुँडेर पर रखकर मनोहर ने नीचे आँगन में झाँका, और पतंग आँगन में गिरते देखा वह प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिये शीघ्रता से घूमा; परंतु घूमते समय मुँडेर पर से उसका पैर फ़िसल गया। वह नीचे की ओर चला। नीचे जाते-जाते उसके दोनो हाँथों में मुँडेर आ गई। वह उसे पकड़कर लटक

गया, और रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"ताई !" रामेश्वरी ने धड़कते हुए हृदय से इस घटना को देखा। उनके मन में आया कि अच्छा है, मरने दो, सदा का पाप कट जायगा। यही सोचकर वह एक क्षण के लिये रुकीं। उधर मनोहर के हाथ मुँडेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यंत भय तथा करुण नेत्रों से रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"अरी ताई ?" रामेश्वरी की आँखें मनोहर की आँखों से जा मिलीं। मनोहर की वह करुण दृष्टि देखकर रामेश्वरी का कलेजा मुँह को आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनोहर को पकड़ने के लिये अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुँचा ही था कि मनोहर के हाथ से मुँडेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी चीख़ मारकर छज्जे पर गिर पड़ीं।

रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुख़ार में बेहोश पड़ी रहीं। कभी-कभी वह ज़ोर से चिल्ला उठतीं और कहतीं—"देखो-देखो, वह गिरा जा रहा है—उसे बचाओ—दौड़ो—मेरे मनोहर को बचा लो।" कभी वह कहतीं—"बेटा मनोहर, मैंने तुझे नहीं बचाया। हाँ, हाँ, मैं चाहती, तो बचा सकती थी—मैंने देर कर दी।" इसी प्रकार के प्रलाप वह किया करतीं।

मनोहर की टाँग उखड़ गई थी। टाँग बिठा दी गई। वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगा।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा—"मनोहर कैसा है ?"

रामजीदास ने उत्तर दिया—"अच्छा है।"

रामेश्वरी—"उसे मेरे पास लाओ।"

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे बड़े प्यार से हृदय से लगाया। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। हिचकियों से गला रुँध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गईं। अब वह मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं। और, मनोहर तो अब उनका प्राणाधार हो गया है। उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती।

लीडरी का पेशा

(१)

पं० उमादत्त शुक्ल जब तीन बार लगातार एफ़० ए० में फ़ेल हुए, तो उन्हें शिक्षा से इतनी घृणा हो गई कि उनके सामने कॉलेज का नाम लेने से उनका जी मतलाने लगता था। अंत में आपने पढ़ना-लिखना सब अपने से कम बुद्धिवालों के लिये छोड़ दिया, और निहंग-लाड़ले बनकर घूमने लगे।

शुक्लजी कुछ रोज़ कॉलेज की पढ़ाई के कारण क्लांत हुए शरीर और मस्तिष्क को आराम देते रहे; पर जब घरवालों ने खटमल की तरह उनके आराम में विघ्न डालना और उन्हें नौकरी-चाकरी करने के लिये कोंचना शुरू किया, तब वह प्रार्थना-पत्र जेब में डालकर दफ़्तरों के द्वार झाँकने लगे। पर जहाँ जाते, वहाँ स्थान नहीं का टका-सा उत्तर पाकर बैरंग लौट आते थे। एक-आध जगह स्थान ख़ाली भी मिला, और बीस रुपए मासिक पर उन्हें लोग रखने के लिये भी तैयार हुए; पर शुक्लजी को पचास से नीचे के अंकों से कुछ ऐसी चिढ़ थी कि उन्होंने लोगों की इस प्रार्थना को बिलकुल अस्वीकार कर दिया।

घरवाले तथा अन्य इष्ट-मित्र उनसे कहते थे—"अरे भाई, शुरू में बीस ही क्या बुरे हैं? जो लोग पहलेपहल बीस के नौकर हुए थे, वे अब सौ-सौ, डेढ़-डेढ़ सौ पाते हैं। जैसे ही पुराने होते जाओगे, तरक़्क़ी होती जायगी। इसके सिवा तुम्हारी योग्यता ही क्या है? केवल एंट्रेंस ही तो पास किया है। एंट्रेंसवालों को इससे अधिक की नौकरी मिल ही नहीं सकती।"

यह सुनकर उमादत्तजी आग हो जाते थे। वह कर्कश स्वर में उत्तर देते—"एंट्रेंस का नाम न लेना, मैं अंडर-ग्रेजुएट हूँ। मैंने चार साल कॉलेज अटेंड किया है। एम्० ए०, बी० ए० पास करने ही से क्या होता है? योग्यता और चीज़ है। ईश्वर की कृपा से अभी इतनी योग्यता है कि अच्छे-अच्छे ग्रेजुएटों को पढ़ा दूँ। आज-कल तो अंधेर है। सब दो अंगुल का काग़ज़ (अर्थात् सार्टिफ़िकेट) देखते हैं, योग्यता कोई नहीं देखता। और, जो फ़ेल होने की कहो, तो यह चांस पर निर्भर है। अच्छे-अच्छे फ़ेल हो जाते हैं, और गधे पास। अपना-अपना भाग्य है। नौकरी नहीं मिलती, न मिले। मैं नौकरी करूँगा भी नहीं। मुझे नौकरी से स्वयं घृणा है।"

इस पर जब पूछा जाता कि "नौकरी न करोगे, तो करोगे क्या?" तब शुक्लजी सिर खुजलाकर कहते—"यह मैं अभी स्वयं नहीं सोच सका कि क्या करूँ। यह ज़रा ग़ौर-तलब बात है, पर विश्वास रखिए, करूँगा कोई उत्तम ही काम।"

इसमें संदेह नहीं कि शुक्लजी का मस्तिष्क एक अच्छा-ख़ासा चलता पुर्ज़ा था। शुक्लजी सहज ही में बड़ी दूर की कौड़ी ले आते थे।

एक दिन रात को पड़े-पड़े शुक्लजी के ध्यान में यह बात आई कि आजकल सबसे अच्छा पेशा लीडरी का है। यह एक ऐसा रोज़-गार है कि "हर्रा लगे न फिटकरी, रंग चोखा आवे।" इस रोज़गार के लिये न पूँजी की आवश्यकता है, न किसी डिग्री की। आवश्य-कता है केवल कुछ थोड़ी-सी बातों की। हलक में ऐसा बल हो कि घंटों चीख़ने-चिल्लाने पर भी न थके। बातें बनाना ख़ूब जानता हो, ऐसे-वैसे को अपने सामने बोलने न दे। ग़प हाँकने और झूठ बोलने में भी पटु हो। प्रथम श्रेणी का बना हुआ, अर्थात् ढोंगी हो। आवश्यकता पड़ने पर तुरंत रो भी सके, और हँस भी सके।

इसके सिवा घर का फ़ालतू हो। अगर "जोरू न जाता, अल्लाह-मियाँ से नाता" हो, तो अति उत्तम।

शुक्लजी ने जब धैर्य-पूर्वक अपनी समालोचना की, तो अपने में उपयुक्त गुणों में से अधिकांश गुण पाए। जिन गुणों की कमी देखी, उन्हें उत्पन्न करने की अपने में योग्यता समझी। हाँ, एक स्थान पर शुक्लजी की योग्यता का छकड़ा अड़ गया। शुक्लजी यद्यपि अपने घर में एक बिलकुल अनुपयोगी संख्या थे, पर, तो भी सोलहो आने घर से फ़ालतू न थे। कारण? शुक्लजी का आधा अंग उनके फ़ालतूपन को अपूर्ण बनाए हुए था। तो भी शुक्लजी ने बहुत कुछ सोच-विचारकर यह निश्चय किया कि अर्द्धांगिनी के होने से उनको लीडरी में कुछ अधिक बाधा न पड़ेगी।

(२)

शुक्लजी महाराज पहले ही से प्रायः सभा-सोसाइटियों में आया-जाया करते थे, पर अब उन्होंने प्रत्येक स्थानीय सभा तथा प्रत्येक राजनीतिक और राष्ट्रीय संगठन में भाग लेने की क़सम खा ली। लीडरी की यही पहली सीढ़ी है।

अब शुक्लजी ने लीडरी का काम बड़े ज़ोर-शोर से शुरू किया। जब कोई सभा होती, तब आप प्लेट-फ़ार्म ही पर बैठते, और बिना किसी के कहे-सुने सभा-संबंधी छोटे-मोटे काम दौड़-दौड़कर करते थे। व्याख्यानदाता को पानी की आवश्यकता हुई, पानी के लिये कहा किसी से गया, परंतु दौड़ पड़े हमारे शुक्लजी। लोगों ने भी देखा, कोई नई चिड़िया है। दर्शकों ने कुछ गड़बड़ मचाई, परंतु तुरंत ही शुक्लजी खड़े हो गए, और लोगों को चुप करने के लिये आपने दो-चार वाक्य का व्याख्यान दे डाला।

इसी प्रकार कुछ दिन तक शुक्लजी लीडरी का कोर्स पूराक रते रहे। थोड़े दिनों बाद शुक्लजी को लोग जान गए। आपका कुछ-

कुछ सम्मान भी हो चला। बड़े-बड़े लोगों से भी आपकी 'वंदे मातरम्' होने लगी। सभा करनेवालों की सूची में भी आपका नाम छपने लगा। कभी-कभी शुक्लजी स्वयं चेष्टा करके अपना नाम सम्मिलित करा देते थे।

इधर घरवाले शुक्लजी के इस सदुद्योग का मूल्य न समझने के कारण अत्यंत असंतुष्ट थे। उनको शुक्लजी का बेनकेल के ऊँट की तरह भागे-भागे फिरना एक आँख नहीं भाता था। परंतु बेचारे करते क्या?

एक दिन शुक्लजी के पिता ने उनसे बिगड़कर कहा—"देखो उमादत्त, तुम इस प्रकार जीवन नष्ट कर रहे हो, यह अच्छी बात नहीं। मैं मानता हूँ, तुम्हारा यह काम बुरा नहीं; पर यह तभी शोभा दे सकता है, जब तुम उन लोगों को, जो तुमसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते हैं—इतना ही नहीं, जिनका जीवन तुम पर निर्भर है—संतुष्ट रक्खो, उनके उदर-पोषण का प्रबंध कर दो। परंतु तुम उनकी कुछ पर्वा न करके केवल अपनी अभिलाषा-पूर्ति में लगे हो, यह बात सर्वथा अनुचित है।"

शुक्लजी नाक-भौं सिकोड़कर बोले—"आपसे यह किसने कहा कि मुझे उनका ध्यान नहीं! मैं उन्हीं के लिये तो यह सब कर रहा हूँ। ज़रा मेरी धाक तो जम जाने दीजिए, फिर देखिएगा कि किस आनंद से जीवन कटता है।"

परंतु पिता को पुत्र का यह वक्तव्य एक पागल का प्रलाप-सा मालूम पड़ा। बेचारे करते क्या, बराबर के पुत्र को मार-पीट भी नहीं सकते थे। चुपचाप अपना भाग्य ठोंककर रह गए। इधर शुक्लजी "धोबी का कुत्ता, न घर का, न घाट का" के अनुसार दोनो दीन से जा रहे थे।

इस प्रकार एक वर्ष के लगभग बीता। अब उनके परिवार में

उनका स्थान केवल इतना रह गया कि जब भूख लगती थी, तब भोजन कर जाते थे और यदि कहीं बाहर ही डौल लग गया, तो घर आने की भी आवश्यकता न थी। रात को, सराय में आकर ठहरनेवाले यात्री की तरह, घर में आकर सो रहते थे, और वह भी इसीलिये कि बाहर कहीं सोने के लिये स्थान नहीं मिलता था।

संसार में बाहरी आडंबर और ढोंग पर मुग्ध होनेवाले, आँख के अंधे और गाँठ के पूरे, लोगों की कमी नहीं। शुक्लजी ने शहर के देश-भक्तों में एक अच्छा स्थान प्राप्त कर लिया। शहर के कुछ श्रीमानों पर शुक्लजी की अच्छी धाक जम गई। शुक्लजी अब बाहर की सभाओं और सम्मेलनों में भी जाने लगे। कांग्रेस को भी अपने चरण-रज से पवित्र करने लगे। सारांश यह कि जिस प्रकार आप शिक्षा में अंडर-ग्रेजुएट थे, उसी प्रकार अपनी समझ में, नेतृत्व में भी अंडर-ग्रेजुएट हो गए।

(३)

अब शुक्लजी अपने को देश के बड़े-बड़े नेताओं से कुछ ही कम समझने लगे। कुछ काम न रहने पर भी, साधारण आदमियों से मिलने के लिये अवकाश भी कम रहने लगा।

जब देखिए, किसी रायसाहब अथवा सेठ साहब के कमरे में लेटे हुए बिजली के पंखे की हवा खा रहे हैं, और राजनीतिक गप्पें लड़ रही हैं।

यदि रायसाहब ने पूछा—"क्यों शुक्लजी, सत्याग्रह के संबंध में आपकी क्या राय है?" तो शुक्लजी ने कुछ मुस्किराकर उत्तर दिया—"अजी, सत्याग्रह में क्या धरा है? पर हाँ, एक बात यह अवश्य है कि इस समय इसकी कुछ-कुछ आवश्यकता है। ऐसी कुछ अधिक आवश्यकता भी नहीं, पर गांधीजी की आज्ञा का पालन अवश्य करना चाहिए।"

इस प्रकार शुक्लजी कभी स्पष्ट उत्तर न देते थे। सदैव दुटप्पी बात कहते थे। शुक्लजी में यह एक गुण भी था कि जैसी अधिकांश जनता की रुचि देखते थे, वैसी ही हाँकते थे। जब देखते कि जनता की रुचि इस समय देश के अमुक बड़े नेता को गालियाँ देने की ओर अधिक है, तब आप गालियों की ऐसी फुलझड़ियाँ छोड़ते कि सुनने-वाले प्रसन्नता के मारे फूल उठते, और जब देखते कि जनता इस समय उनकी प्रशंसा सुनने से प्रसन्न होती है, तब तारीफ़ों के पुल बाँध देते थे। शुक्लजी के उद्योग से एक लीग भी स्थापित हो गई थी। शुक्लजी उस लीग के सिद्धांतों का प्रचार करने के लिये महीनों इधर-उधर घूमते और लीग के धन से खूब गुलछर्रे उड़ाया करते थे। गरमियों में बिना बर्फ़ के पानी नहीं पीते थे; जाड़ों में दिन-भर में चार बार चाय न पिएँ, तो न्युमोनिया हो जाये। लोग कहा करते थे—"शुक्लजी का स्वास्थ्य परिश्रम करने से बड़ा नाज़ुक हो गया है। ज़रा में सरदी-गरमी का असर हो जाता है।" परिश्रम शुक्लजी का यह था कि दिन-भर बैठे गपशप लड़ाना, इधर-उधर पत्र-व्यवहार करना, भ्रमण करना और महीने में दो-चार बार व्याख्यान दे देना। इतने ही कठिन परिश्रम से शुक्लजी का स्वास्थ्य कमज़ोर हो गया था। लीग स्थापित होने के कुछ दिनों बाद शुक्लजी ने लीग को अपना जीवन अर्पण कर दिया, और इस प्रकार वह लीग के कोष से लाभ उठाने के स्थायी अधिकारी हो गए।

एक दिन शुक्लजी से एक बिगड़ेदिल ने पूछा—"क्यों शुक्लजी, आपने अपना जीवन लीग को दान दे दिया है?"

शुक्लजी हँसकर बोले—"हें-हें, मुझमें क्या शक्ति है, जो किसी को दान दे सकूँ? हाँ, यथाशक्ति उसकी सेवा अवश्य करता हूँ।"

बिगड़ेदिल—"जीवन-दान करने से आपको लाभ ही हुआ।"

शुक्लजी चकराकर बोले—"लाभ कैसा ?"

बिगड़ेदिल—"यही कि अब आराम से जीवन व्यतीत होता है, अच्छा भोजन मिलता है, अच्छा वस्त्र । गाड़ियों पर चढ़े-चढ़े घूमते हैं । बहुत-से बड़े-बड़े नेता बिलकुल सीधा-सादा जीवन व्यतीत करते हैं; पर आप तो वैसा नहीं करत ?"

शुक्लजी—"जो ऐसा नहीं करते, वे काम भी अधिक नहीं कर सकते । एक-आध ऐसे हों, तो उनकी बात जाने दीजिए । देखिए, यदि मैं घी-दूध न खाऊँ, तो घंटों व्याख्यान कैसे दूँ ? आप जानते हैं, व्याख्यान देने में कितनी शक्ति ख़र्च होती है ? यदि अच्छे और साफ़ कपड़े न पहनूँ, तो स्वास्थ्य बिगड़ जाय । गाड़ी पर न चढ़ूँ, तो शीघ्र काम न हो; जहाँ दस मिनट में पहुँच सकता हूँ, वहाँ आध घंटे में पहुँचूँ । अब आप ही बतलाइए कि एक नेता के लिये ये बातें कितनी आवश्यक हैं ? इनके बिना तो नेता का एक घड़ी काम नहीं चल सकता ।"

बिगड़ेदिल—"पर दूसरों को तो आप प्रायः सीधा-सादा जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया करते हैं ?"

शुक्लजी—"जिनको एक नेता का-सा परिश्रम नहीं करना पड़ता, उन्हें तो सीधा-सादा जीवन ही व्यतीत करना चाहिए, क्योंकि उन्हें अधिक आराम की आवश्यकता नहीं । नेता को परिश्रम अधिक करना पड़ता है, इसलिये उसे आराम भी अधिक चाहिए । यदि आप यह कहें कि नेता को इतने आराम की आवश्यकता ही नहीं, तो यह बताइए कि यदि नेता अधिक परिश्रम करने के कारण परलोक सिधार गया, तो फिर आपको ठीक राह कौन बताएगा ? आप लोग भटकते फिरेंगे । परिणाम यह होगा कि देश रसातल को पहुँच जायगा । इसलिये यह आवश्यक है कि नेता को जितना ही आराम और सुख दिया जाय, अच्छा है ; क्योंकि

जितने ही अधिक दिन तक वह जीवित रहेगा, उतना ही उससे देश को लाभ पहुँचेगा।"

शुक्लजी के इस तर्क के आगे विगड़ेदिल भी बग़लें झाँकने लगे।

(४)

लीग का कार्य संपादन करने के लिये शुक्लजी तीन महीने से बाहर भ्रमण कर रहे थे। उन्हीं दिनों उन्हें तार मिला कि उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। शुक्लजी ने बहुत शोक प्रकट किया, और तार द्वारा यह उत्तर भेजा—"बड़ा दुःख हुआ; परंतु आने में असमर्थ हूँ, काम के मारे ज़रा भी अवकाश नहीं।"

उस दिन से शुक्लजी पर लोगों की श्रद्धा और भी बढ़ गई। लोगों ने सोचा—शुक्लजी बड़े कर्तव्य-परायण हैं। कर्तव्य के सामने पिता की मृत्यु की भी पर्वा नहीं की; उनकी अंत्येष्टि-क्रिया तक में सम्मिलित होने नहीं गए। लोग ऐसे कर्तव्य-परायण होने लगें, तो भारत का उद्धार हो जाय।

पिता की मृत्यु के एक महीने बाद शुक्लजी लौटे। वह जिस समय माता के सामने पहुँचे, तो माता ने आसमान सिर पर उठा लिया। रोते-रोते बोली—"अभागे, दूर हो मेरे सामने से, मैं तेरी सूरत नहीं देखना चाहती। ऐसे लड़के से मैं बाँझ ही रहती, तो अच्छा था। बाप की किरिया (क्रिया) तक करने न आया। तू होते ही क्यों न मर गया? तूने जैसा हमें दुख दिया, ईश्वर करे, वह सब तेरे आगे आवे! तेरे बदन से कोढ़ टपके!"

इस प्रकार बुढ़िया ने सैकड़ों सुनाईं। शुक्लजी को बुढ़िया के अपशब्द उतने बुरे नहीं लगे, जितना कि उसका उन शब्दों को उच्च स्वर में कहना। कारण? उन्हें डर था, कहीं ऐसा न हो कि मुहल्ले-वाले सुन लें, तो लीडरी की सारी शान मिट्टी में मिल जाय।

वृद्धा माता को अपने देश-भक्त और नेता पुत्र की सूरत से

इतनी घृणा हो गई कि वह दूसरे शहर में, अपने छोटे भाई के पास चली गई, और उसने प्रण कर लिया कि वह उमादत्त की सूरत मरते-दम तक न देखेगी। परंतु शुक्लजी ने इसकी ज़रा भी पर्वा नहीं की। वह पत्नी-सहित वहीं रहकर देशोद्धार के लिये नित्य नई युक्तियाँ सोचने लगे।

इस प्रकार शुक्लजी और किसी काम के न होते हुए भी लीडरी के पेशे के लिये पूर्ण रूप से योग्य प्रमाणित हुए।

माता का हृदय

(१)

"क्या कहूँ बहू, जब से ब्रजमोहन का ब्याह हुआ, तब से उसकी तो जैसे काया ही पलट गई। ब्याह के पहले मेरे पास घंटों बैठता, अपना दुख-सुख कहता, मेरी सुनता, और हर बात में मेरी सलाह लेता था, पर जब से ब्याह हुआ, तब से वे सारी बातें सपना-सी हो गईं। मैंने किस चाव से ब्याह किया था। मैं सोचती थी कि दोनो की ज़ोड़ी देखकर मैं आँखें ठंडी करूँगी। मैं यह नहीं जानती थी कि अपने पैर में आप ही कुल्हाड़ी मार रही हूँ!

"बहू, आजकल कुछ हवा ही ऐसी चल गई है कि मरद जोरू के ग़ुलाम हो जाते हैं, मा-बाप को दूध की मक्खी की तरह निकाल-कर फेंक देते हैं। जब देखो, लाड़ली का आँचल पकड़े बैठे हैं। यह कलजुग है। इसमें जो न हो, सो थोड़ा समझो। आजकल की लड़-कियाँ ऐसी छत्तीसी होती हैं कि अपने मरद पर जादू डाल देती हैं। बस, वह उन्हीं के कहने पर चलता है।"

शाम का समय है। एक कमरे में दो प्रौढ़ा स्त्रियाँ बैठी उक्त बातें कर रही हैं। ठीक उसी समय, एक युवती कुछ घूँघट निकाले उस स्थान पर आई। उसे देखकर दोनो प्रौढ़ाओं में से एक ने मुँह पर उँगली रखकर दूसरी की ओर इशारा किया। दूसरी स्त्री कुछ कहना ही चाहती थी, पर उसके इशारा करने से चुप हो गई। युवती ने इशारा करनेवाली स्त्री से पूछा—"माजी, आज खाने को क्या बनेगा?" माजी मुँह फुलाकर बोलीं—"मैं क्या जानूँ? जो तेरा जी चाहे, बना। अपने आदमी से पूछ ले।"

"अपने आदमी से पूछ ले" का तात्पर्य था "अपने पति से पूछ ले।" युवती ने कुछ देर चुप रहकर कहा—"तुम्हारा जी जो खाने को हो, वह मैं बनाऊँ।"

प्रौढ़ा कुछ रूखी मुस्कान के साथ बोली—"मेरा जी अब काहे में रहा? मैं तो बहुत खा-पी चुकी। मुझे तो अब पेट भरना है। अब तुम्हारा राज है। जो जी चाहे, सो बनाओ-खाओ।"

यह कहकर प्रौढ़ा ने दूसरी प्रौढ़ा की ओर एक भाव-पूर्ण दृष्टि डाली। दूसरी प्रौढ़ा ने एक लंबी साँस लेकर गरदन झुका ली। युवती कुछ देर तक मौन खड़ी रही, फिर धीरे-धीरे वहाँ से चली गई। युवती के चले जाने पर पहली स्त्री अर्थात् ब्रजमोहन की माता, बोली—"देखा, मुझसे पूछती है क्या खाओगी?" दूसरी स्त्री ने कहा—"तो इसमें कोई वैसी बात नहीं। घर के बड़े-बूढ़ों से तो पूछा ही जाता है।" ब्रजमोहन की माता माथे पर हाथ रखकर बोली—"हे भगवान्! बहू, तू भी सठिया गई? अरे, इसमें भी चाल है। मैं कुछ कह देती, बस, झट ख़सम से जाकर कहती कि वह तो यह खायँगी, वह खायँगी—उनकी जीभ लपर-लपर हुआ करती है—इत्यादि। और, न-जाने क्या-क्या जड़ती! इसी से तो मैंने कह दिया कि जो तुम्हारा जी चाहे, बनाओ-खाओ। और बहू, सच्ची बात तो यह है कि हम-तुमने बहुत खा-पी लिया है। हम-तुमने जो खाया-पिया है, वह आजकल के लोगों को देखने को नहीं मिल सकता।"

दूसरी ने कहा—"राम-राम, वे बातें अब कहाँ?"

(२)

ब्रजमोहनलाल अपने कमरे में कपड़े उतार रहे थे। उसी समय उनकी अर्द्धांगिनी ने कमरे में प्रवेश किया। अर्द्धांगिनी को देख ब्रजमोहन कुछ मुस्किराकर बोले—"भोजन तैयार है?"

मनोरमा ने धीमे स्वर में उत्तर दिया—"तैयार है।"

ब्रजमोहनलाल ने पूछा—"आज क्या बना है?"

मनोरमा मुख भारी करके बोली—"जो बनना था, वही बना है।"

ब्रजमोहनलाल कुछ देर तक चुप रहे, फिर कुछ गंभीर होकर बोले—"आज तुम कुछ उदास मालूम होती हो, क्या बात है?"

मनोरमा चुप रही।

ब्रजमोहन ने पूछा—"क्यों, क्या हुआ?"

मनोरमा क्रंदन-स्वर में बोली—"हुआ क्या, माजी का व्यवहार दिन-पर-दिन रूखा होता जा रहा है। आज पड़ोस के वसंतकुमार की माता आई थी। उनसे अकेले में बैठे न-जाने क्या-क्या खुसुर-फुसुर कर रही थीं। मैंने जाकर पूछा—आज खाने को क्या बनेगा? बस, इतना पूछने पर ही न-जाने क्या-क्या बकने लगीं। बोलीं—ख़सम से पूछ ले। मेरा राज तो गया, अब तुम्हारा राज है। जो चाहे, बनाओ-खाओ—इत्यादि। और, न-जाने क्या-क्या कहा। मुझे वैसे तो कुछ बुरा न लगता, वह रोज़ ही दो-चार बातें कहा करती हैं, पर आज एक बाहर की स्त्री के सामने उन्होंने ये बातें कहीं। वह अपने जी में न-जाने क्या कहेंगी! माताजी तो अब कुछ शत्रुता-सी करने पर उतारू रहती हैं।"

मनोरमा की बातें सुनकर ब्रजमोहन के मुख की गंभीरता बढ़ गई। वह बड़ी देर तक चुपचाप बैठे सोचते रहे। फिर एक लंबी साँस लेकर बोले—"हाँ, मैं भी उनके रूखे व्यवहार का अनुभव कर रहा हूँ। पहले वह मुझे इतना प्यार करती थीं, जितना कि एक माता को करना चाहिए; परंतु अब उनके उस व्यवहार में बहुत अंतर हो गया है।"

मनोरमा—"ये सारी बातें मेरे कारण हैं। न-जाने वह मुझसे क्यों जला करती हैं? मैंने उनका क्या बिगाड़ा है? मैं तो सदा

उनकी सेवा-शुश्रूषा में लगी रहती हूँ, प्रत्येक काम में उनकी आज्ञा ले लेती हूँ, फिर भी वह असंतुष्ट रहती हैं।"

ब्रजमोहन—"सास और बहू में कभी प्रेम का व्यवहार नहीं रह सकता। सास और बहू में वैमनस्य रहना स्वाभाविक है।"

मनोरमा—"पर जब मैं अपनी ओर से कोई ऐसा काम नहीं करती, जिससे उन्हें दुख हो, तब फिर इसमें मेरा क्या अपराध?"

ब्रजमोहन—"जब मनुष्य के हृदय में वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है, तब उसे ज़रा-ज़रा-सी बात में दोष और अपराध दिखाई पड़ता है। अब केवल प्रश्न यह है कि आख़िर उनके हृदय में तुम्हारे प्रति वैमनस्य क्यों उत्पन्न हुआ?"

मनोरमा—"यही तो मैं भी सोचती हूँ कि इसका कारण क्या है?"

ब्रजमोहन—(कुछ रूखे स्वर में) "इसका कारण उनकी मूर्खता के सिवा और क्या कहा जा सकता है? अच्छा, अब तुम भोजन यहीं ले आओ।"

ब्रजमोहनलाल ने अपने ही कमरे में भोजन किया। उस दिन वह अपनी माता के पास तक नहीं गए।

(३)

ब्रजमोहनलाल विवाह के पहले अपना ख़ाली समय, अर्थात् जब तक वह घर में रहते थे, माता के पास बैठने-उठने में व्यतीत करते थे। दोनो वक्त माता के साथ भोजन करते थे। रात को माता के पलँग के पास पलँग बिछाकर सोते थे। रात को जब तक जागते रहते थे, माता से अनेक प्रकार की बातचीत करते रहते थे। अपना दुख-सुख कहते और उनका सुनते थे। प्रत्येक कार्य में उनका परामर्श लेते थे। यदि कभी किसी कारण माता का चित्त उदास होता था, अथवा उन्हें कोई शारीरिक कष्ट होता था, तो ब्रजमोहन उनको

प्रसन्न करने की, उनका शारीरिक कष्ट दूर करने की, पूरी चेष्टा करते थे। यदि कभी किसी कारण माता की इच्छा भोजन करने की न होती थी, तो ब्रजमोहन कहते थे—देखो मा, जो तुम न खाओगी, तो मैं भी न खाऊँगा। यह सुनकर माता व्याकुल हो जाती थी, और जिस प्रकार बनता, कुछ खाने की चेष्टा करती थी। पहले ब्रजमोहन जो कुछ धनोपार्जन करते थे, वह माता के हाथ पर धर देते थे और जब कभी ख़र्च की आवश्यकता होती थी, तो उन्हीं से माँग लिया करते थे। परंतु विवाह होने के बाद उनके ख़ाली समय का अधिकांश मनोरमा के साथ व्यतीत होने लगा। जब ब्रजमोहन भोजन करने बैठते, मनोरमा प्रेम के मारे स्वयं उनके पास जा बैठती, और उन्हें भोजन कराती। ऐसी दशा में माता वहाँ कैसे उपस्थित रह सकती थी? जो कुछ धनोपार्जन करते थे, उसमें आधा तो वह माता को देने लगे और आधा मनोरमा को। पहले ब्रजमोहन की मंत्रिणी माता थी, परंतु अब मनोरमा हो गई। हाँ, कभी-कभी किसी बात में माता की भी सलाह ले ली जाती थी। यदि अब माता को कोई शारीरिक कष्ट होता, तो साधारण रूप से सेवा-शुश्रूषा होती थी। उसमें पहले की-सी प्रेम की गरमी नहीं पाई जाती थी। अब यदि माता किसी कारण से भोजन नहीं करती, तो ब्रजमोहनलाल दो-एक बार पूछकर स्वयं भोजन कर लेते हैं। वह प्रेम-रस-पूर्ण वाक्य कि देखो मा, जो तुम न खाओगी, तो मैं भी न खाऊँगा, अब नहीं कहते।

उक्त घटना के दूसरे दिन ब्रजमोहन की माता वसंतकुमार के घर गईं। वसंतकुमार की माता ने आदर-पूर्वक बिठलाकर पूछा—"कहो बहू, आज उदास क्यों हो?"

मनुष्य-मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपना दुख-सुख मित्रों से कहकर अपने हृदय का बोझ हलका करता है। अशिक्षितों में—

ख़ासकर स्त्रियों में—यह स्वभाव विशेष बलवान् होता है। वे अपना दुख-सुख जब तक किसी से कहकर उसकी सहानुभूति प्राप्त नहीं कर लेतीं, तब तक उनके हृदय पर बड़ा भारी बोझ-सा लदा रहता है। व्रजमोहन की मा वसंतकुमार की माता के पास इसीलिये आई थीं कि अपने हृदय की वेदना उनसे कहें। वह एक लंबी साँस छोड़कर बोलीं—"क्या कहूँ बहू, मेरे भाग फूट गए। अब मेरा व्रजमोहन मेरा नहीं रहा। हाय, अब मुझे यह ध्यान आता है कि व्रजमोहन को मैंने इतने दुख उठाकर पाला, उसके कारण दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा, उसी का मुँह देख-देखकर जीती रही। जब उसके बाप परलोक सिधारे थे, तब मैंने उसी को देखकर मन को धीरज दिया था। मैंने उनके मरने का दुख उतना नहीं माना, जितना कि मेरी-जैसी विधवाओं को होना चाहिए। जब मैं यह सोचती हूँ कि जो व्रजमोहन मेरे बिना एक घड़ी भी नहीं रह सकता था—व्याकुल हो जाता था, जो व्रजमोहन बिना मुझे खिलाए खाता नहीं था, जो व्रजमोहन मुझे दुखी देखकर व्याकुल हो जाता था, जो व्रज-मोहन रात-दिन मेरे मुँह की ओर ताका करता था—मेरी आज्ञा बिना छोटे-से-छोटा काम भी नहीं करता था, कहाँ तक कहूँ बहू, जो व्रजमोहन हर तरह से मेरा व्रजमोहन था, वह अब पराया हो गया। जब मुझे यह ध्यान आता है, तब कलेजे में एक हूक उठती है। मुझ निगोड़ी ने अपना आपा जला-जलाकर उसे पाला-पोसा। आज मुझे एक पराए घर की छोकरी ने दूध की मक्खी की तरह अलग कर दिया, और मेरे व्रजमोहन को अपना बना लिया, मुझे ग़ैर कर दिया। हाय!"

वसंतकुमार की माता बोली—"बहू, यह तो सारे संसार में हो रहा है। मा-बाप कितने दुख-सुख उठाकर पालते-पोसते हैं, पर वे तो पराए हो जाते हैं, और दो दिन की आई हुई पराए घर की छोकरियाँ लाड़ली हो जाती हैं।"

ब्रजमोहन की माता ने फिर कहना शुरू किया—"वैसे तो बहू, मेरी बहू में कोई दोष नहीं, बेचारी हर प्रकार से मेरी सेवा करती रहती है; पर जब मुझे यह ध्यान आता है कि इसी ने मेरे ब्रजमोहन को मुझसे छुड़ाकर अपना बना लिया—जो यह न आती, तो ब्रज-मोहन का और मेरा प्यार वैसा ही बना रहता—तब मेरे हृदय में आग-सी लग जाती है, उसे देखकर मेरी आँखों में ख़ून उतर आता है। क्या कहूँ, मैं अपने मन को बहुत समझाती हूँ कि संसार में सबके यहाँ ऐसा ही होता है, हमारे भी सास-ससुर थे, हमने भी उनके साथ यही किया, जो अब हमारे बहू-बेटे हमारे साथ कर रहे हैं, पर फिर भी यह जी नहीं मानता।"

वसंतकुमार की माता बोली—"बहू, चाहे जो हो, अब वह बात तो होने की नहीं। अब तो वह उसका हो चुका। चाहे तुम कुछ भी करो, वह तुम्हारा नहीं हो सकता। इससे अब मन को धीरज देना ही अच्छा है।"

ब्रजमोहन की माता रोने लगी, और रोते-रोते बोली—"बहू, मैं और कुछ नहीं चाहती। जिसमें वह सुखी रहे, वही करे; उसे सुखी देखकर मेरी छाती ठंडी रहेगी। पर मैं केवल इतना चाहती हूँ कि वह जितना प्यार मुझसे पहले करता था, उसका आधा ही करे। क्या कहूँ बहू, अब तो वह कई-कई दिनों तक मेरे पास तक नहीं आता।"

वसंतकुमार की मा ने कहा—"अच्छा, आज मैं वसंत से कहूँगी, वह ब्रजमोहन को समझाएगा। देखो, उसके समझाने से वह समझ जाय, तो अच्छा ही है।"

(४)

प्रेम औ ममत्व का ऐसा जोड़ा है कि दोनो कभी जुदे नहीं किए

जा सकते। जहाँ प्रेम है, वहाँ ममत्व है, जहाँ ममत्व है, वहाँ प्रेम है। मनुष्य जिससे प्रेम करता है, उसको अपना बनाकर रखना चाहता है। जिसे मनुष्य अपना समझता है, उससे प्रेम करता है। मनुष्य जिससे प्रेम करता है, उसे यदि अपना बनाकर नहीं रख सकता, तो उसे घोर कष्ट होता है, और ऐसा ही प्रेम असफल प्रेम कहलाता है।

यही हाल ब्रजमोहन की माता का भी था। माता के प्रेम का क्या कहना। ऐसी दशा में ब्रजमोहन की माता के लिये यह बात असह्य थी कि ब्रजमोहन उसकी ओर से उदासीन हो जाय, और दूसरे के प्रेम-पाश में बँध जाय। इसका कारण वह अपनी बहू को ही समझती थी, और इसी कारण पुत्र-वधू के प्रति उसके हृदय में घोर द्वेष उत्पन्न हो गया था। इसी द्वेष के कारण वह उससे इतना रूखा और कटु व्यवहार करती थीं।

दूसरे दिन वसंतकुमार ने ब्रजमोहन से मिलकर कहा—"भाई ब्रजमोहन, मुझे तुमसे एक बात कहनी है।"

ब्रजमोहन ने कहा—"कहिए, क्या कहते हैं?"

वसंतकुमार—"मैंने सुना है, तुम अपनी माता के साथ बड़ा दुर्व्यवहार करने लगे हो।"

ब्रजमोहन चौंककर बोले—"दुर्व्यवहार?"

वसंतकुमार—"हाँ, दुर्व्यवहार।"

ब्रजमोहन—"यह तुमसे किसने कहा?"

वसंतकुमार—"किसी ने कहा हो, बात बिलकुल ठीक है।"

ब्रजमोहन—"परंतु, मेरी समझ में नहीं आता कि मैंने क्या दुर्व्यवहार किया। बल्कि सच पूछो, तो वही दुर्व्यवहार करने लगी हैं।"

वसंतकुमार—"तुम जैसा प्रेम का व्यवहार अपनी माता के साथ विवाह के पहले करते थे, वैसा अब नहीं करते।"

यह कहकर वसंतकुमार ने उनका माता के साथ विवाह के पहले और पीछे का व्यवहार, जो उन्होंने अपनी माता से सुन रक्खा था, ब्रजमोहन को बतलाया।

ब्रजमोहन सब सुनकर मुस्किराए।

वसंतकुमार बोले—"क्यों, यह बात ठीक है?"

ब्रजमोहन—"ठीक तो है, पर मैं इसे दुर्व्यवहार नहीं समझता। यह ठीक है कि पहले मैं उनके प्रति अपना प्रेम बातों और कार्यों द्वारा प्रकट करता रहता था; परंतु अब ऐसा नहीं करता। इसका कारण तुम पूछो, तो मैं यह बतलाऊँगा कि पहले मेरे स्वभाव में लड़कपन था, अब वह लड़कपन नहीं रहा। मुझे अब वैसा व्यवहार करते लज्जा-सी मालूम होती है। इस लज्जा का कारण मेरी सपत्नीक अवस्था है। जब से मेरी पत्नी आई, तब से माता के सामने जाने में भी मुझे लज्जा-सी मालूम होती है। तुम्हारा विवाह नहीं हुआ, इसलिये तुम अभी उसका अनुभव नहीं कर सकते। जब विवाह हो जायगा, तब समझोगे कि मेरी बात में कितनी सचाई है। रही हृदय की बात, सो मेरे हृदय में उनके प्रति आदर और प्रेम तनिक भी कम नहीं हुआ।"

वसंतकुमार बोले—"भाई, मैं 'सपत्नीक'-जीवन के संबंध में तो कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि उससे अनभिज्ञ हूँ, पर इतना अवश्य कहूँगा कि मनुष्य-स्वभाव केवल भावों के हृदयस्थ रहने से संतुष्ट नहीं रहता। जिससे तुम प्रेम करते हो, उसके प्रति यदि अपने प्रेम को केवल हृदय ही में रक्खे रहो, उस पर अपने व्यवहार से उस प्रेम को प्रकट न करो, तो वह कभी तुम्हारे प्रेम को नहीं जान सकता। वह तो तुम्हारे प्रेम की मात्रा को तभी जानेगा, जब तुम उसे व्यवहार द्वारा उस पर प्रकट करोगे। मान लो, यदि किसी प्रकार प्रेम-पात्र को तुम्हारे हृदयस्थ प्रेम का पता लग भी जाय,

तब भी वह संतुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि हृदय में परिमित प्रेम एक कटोरे में भरे हुए जल के समान है। कटोरे में भरा हुआ जल दिखाई तो पड़ता है कि कटोरे में भरा है, परंतु उसे केवल देखने ही से किसी की तृष्णा नहीं बुझती। तृष्णा तो तभी बुझेगी, जब वह पीने के लिये दिया जायगा।"

व्रजमोहन—"यह बात ठीक है, पर इस संबंध में नहीं लागू होती। मैं समझता हूँ कि यह माताजी की अशिक्षा और उनका स्त्री-स्वभाव है। वह एक साधारण-सी बात को इतना महत्व दे रही हैं।"

वसंतकुमार—"ख़ैर, तुम्हारी इच्छा। जो ठीक समझो, करो। मुझे जो कुछ कहना था, कह चुका।"

(५)

व्रजमोहन ने वसंतकुमार की बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने उन बातों को बिलकुल निरर्थक समझा। वह समझते थे कि उनकी माता ही, अशिक्षित होने और बहू मनोरमा से द्वेष-भाव रखने के कारण, यह सब झगड़ा मचाए हुए हैं। उन्हें माता के घरेलू बातों को दूसरो से कहकर उनसे सहायता चाहने के कार्य पर बहुत क्रोध आया। उन्होंने ये सब बातें मनोरमा से कहीं। मनोरमा ने भी सास के इस कार्य को बहुत बुरा समझा, और पति को उनके विरुद्ध ख़ूब भड़काया। परिणाम यह हुआ कि गाँठ सुलझने की अपेक्षा और अधिक उलझ गई। मनुष्य स्वार्थ का पुतला है। वह दूसरों के हृदय की, दूसरों के भावों की, उस समय तक कुछ भी पर्वा नहीं करता, जब तक अपने हृदय पर चोट नहीं पड़ती। उन्होंने अपनी माता के प्रेम की गहराई को न जाना, उनकी सरल-हृदयता को न समझा; उन्होंने उन्हें केवल एक अशिक्षित और विवेक-हीन स्त्री समझा। उसी दिन से वह और भी रूखा व्यवहार करने लगे।

इधर व्रजमोहन की माता भी अशिक्षित थीं। उन्होंने भी तमाचे का उत्तर घूँसे से देना शुरू किया। इसमें संदेह नहीं कि वह व्रजमोहन के रूखे व्यवहार से दुखित होकर एकांत में बैठी घंटों रोया करती थीं, परंतु उन्हें अपने हृदय पर इतना अधिकार नहीं था कि अपने व्यवहार को ठीक रखतीं। जब बात निकलती, तब एक की चार-चार सुनाती थीं। प्रायः झगड़े का श्रीगणेश उन्हीं की ओर से होता था।

शाम का समय था। मनोरमा ने स्नान करके भूल से सास की धोती पहन ली। सास ने भी कुछ देर बाद स्नान किया। स्नान करने के बाद जब धोती की आवश्यकता पड़ी, तब मालूम हुआ, उनकी धोती बहूरानी ने पहन ली है। बस, फिर क्या था। उनका क्रोध उबल पड़ा। वह चीत्कार करके बोलीं—"देखो तो राँड़ की बातें! मेरे कपड़े छीनने की घात में है।"

सास के प्रति पति की उदासीनता से मनोरमा का साहस भी बढ़ गया था। अतएव उसने भी कहा—"ज़रा समझ-बूझकर बात कहा करो! क्यों बुढ़ापे में अपनी दुर्दशा कराने को लगी हो! हमारा ही दिया खाती-पहनती हो, और हमीं तुम्हारे कपड़े छीनने की घात में हैं! कहते लाज भी नहीं आती? देखो न, बाप के घर से कपड़ों के थान आते हैं। हमें जो राँड़ कहे, वह इस जलम में तो राँड़ है ही, राम करे सात जलमों तक राँड़ रहे।"

मनोरमा की इस बात पर सास के ऊपर क्रोध का भूत सवार हो गया। उन्होंने जो मुँह में आया, बकना शुरू किया। मनोरमा जब उनकी बातों का उत्तर न दे सकी, तब उसने बैठकर रोना शुरू कर दिया।

थोड़ी देर के बाद व्रजमोहन आ गए। मनोरमा ने रो-रोकर उनसे सब हाल कहा। व्रजमोहन उसी समय क्रोध में भरे हुए माता

के पास पहुँचे, और बोले—"क्यों मा, तुमने उसे राँड़ क्यों कहा ?"

माता बोली—"मैंने कहा, और फिर सौ बार कहूँगी। जो तेरा जी चाहे, कर, और जो उस राँड़ का जी चाहे, वह करके देख ले।"

व्रजमोहन—"तुम इतनी मूर्ख हो ? तुम्हें यह पता नहीं कि उसे राँड़ कहकर तुम मुझे ही कोस रही हो।"

माता—"कोसती तो हूँ। फिर ? मैं तो कहती हूँ कि जब तेरी अर्थी सचमचाती निकलेगी, जिस दिन उस कलमुही की चूड़ियाँ फूटेंगी, उस दिन मेरे कलेजे में ठंडक पड़ेगी।"

माता की यह बात सुनकर व्रजमोहन सन्नाटे में आ गए। उन्होंने सोचा, यही मेरी माता है ? इसी के प्रेम के राग अलापे जाते हैं, यह माता नहीं, राक्षसी है, नागिन है। उनके हृदय में माता के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न हो गई। उन्होंने कुछ देर तक सोचकर कहा—"बस, हद हो गई। अब हमारा-तुम्हारा निर्वाह एक घर में नहीं हो सकता।"

माता ने तुरंत उत्तर दिया—"नहीं हो सकता, तो अपना काला मुँह लेकर निकल जा, और उसको भी ले जा। यह घर मेरे आदमी का है; मैं तो इसे कभी नहीं छोड़ सकती। मुझे जो इस घर से निकलने को कहेगा, उसकी और अपनी जान एक कर दूँगी।"

व्रजमोहन ने कर्कश स्वर में कहा—"तुम्हारे आदमी का है, तो तुम उसे लेकर बैठो। जो मैं अपने बाप का बेटा हूँ, तो इस घर में आकर थूकूँगा भी नहीं।"

माता भी बोली—"और जो मैं भी अपने बाप की बेटी हूँ, तो तेरे द्वार पर कूड़ा फेंकने भी न जाऊँगी।"

व्रजमोहन को अपनी माता से अलग हुए तीन महीने हो चुके। इतने दिनों तक दोनो ने अपनी-अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया। व्रजमोहन तो माता को एक प्रकार से बिलकुल भूल गए। परंतु

ब्रजमोहन की माता अब भी प्रतिदिन पास-पड़ोसवालों से ब्रजमोहन के संबंध में पूछ लेती हैं, और यह जानकर कि वह आनंद से हैं, सुख की साँस भरती हैं। इसी बीच में ब्रजमोहन का जन्म-दिन पड़ा। उस दिन माता ने बड़ा आनंद मनाया। ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दी। पास-पड़ोस की दो-चार स्त्रियों को एकत्र करके कुछ गाया-बजाया भी। कुछ लोग उनकी इस बात पर हँसते थे कि यह बुढ़िया पागल हो गई है। आप ही तो पहले लड़-भिड़कर लड़के से अलग हुई, और अब उसके जन्म-दिन पर ढोलक ठनकाती है।

कभी-कभी वृद्धा एकांत में बैठकर सोचा करती—मैंने नाहक़ झगड़ा बढ़ाया। मैं चुप रहती, तो अच्छा था। मेरा ब्रजमोहन मेरी आँखों की ओट न होता। हाय, मैंने उसे कैसी-कैसी कड़ी बातें कहीं, मैंने उसे कोसा। हे भगवान्! उस समय मेरी जीभ क्यों न जल गई! राम करे, उसको कोसा हुआ मुझे लग जाय।" ऐसी-ऐसी बातें सोचकर वृद्धा घंटों बैठी रोया करती, और अंत में यह कहकर मन को धैर्य देती कि—"वह चाहे जहाँ रहे, ईश्वर उसे दूध-पूत से सुखी रक्खें!"

एक दिन एक पड़ोसी ने आकर कहा—"तीन दिन से ब्रजमोहन को बड़ा ज्वर है, बेहोश पड़ा है।"

इतना सुनते ही मानो बुढ़िया के पैरों-तले धरती खिसक गई। उसने घबराकर कहा—"देखो, उस कलमुँही ने मुझे ख़बर तक न दी। उसी ने तो मेरे ब्रजमोहन का मन बिगाड़ दिया, नहीं तो उसका ऐसा अच्छा सुभाव है कि वैसे सुभाव का आदमी दिया लेकर ढूँढ़ो, तब भी न मिलेगा।"

ब्रजमोहन की माता उसी समय ब्रजमोहन के घर पहुँची। ब्रज-मोहन ने माता को देखा, पर कुछ बोले नहीं। ब्रजमोहन का ज्वर बढ़ता गया। वह एक महीने के लगभग बीमार रहे। बुढ़िया ने

सेवा-शुश्रूषा में जान लड़ा दी। यथाशक्ति मनोरमा को अलग रखने की चेष्टा करती रही। मा रात-रात-भर बैठी पंखा झला करती थी। समय पर औषध देती, समय पर पथ्य देती। ज्वर कम होने पर एक दिन रात को दो बजे व्रजमोहन को अच्छी तरह होश आया। उन्होंने इधर-उधर देखा। उनके सिरहाने उनकी माता बैठी पंखा झल रही थी। पास ही एक पलँग पर मनोरमा पड़ी सो रही थी। नींद के मारे बुढ़िया की आँखें झुकी पड़ती थीं; परंतु वह बराबर अपने काम में लगी हुई थी। व्रजमोहन को इधर-उधर ताकते देख माता का मुख खिल उठा। उसने पूछा—"क्यों बेटा, कैसा जी है—क्यों बेटा, कैसा जी है?" शब्द बड़े साधारण थे, पर माता के मुख से निकले हुए इन शब्दों में न-जाने कितनी प्रेम की जीवनी थी! व्रजमोहन की आँखों से आँसू बहने लगे। उन्होंने मा कहकर माता के गले में अपनी बाँहें डाल दीं।

नास्तिक प्रोफ़ेसर

(१)

प्रोफ़ेसर कुंजविहारी एम्० ए० बिगड़कर बोले—"ये सब वाहियात बातें हैं। ईश्वर-फीश्वर कुछ नहीं, सब ढकोसला है। हम लोग बहुत समय से ईश्वर पर विश्वास करने के अभ्यस्त हो रहे हैं। इस कारण हमारा हृदय ईश्वर की ओर झुकता है, अन्यथा हमारे पास ईश्वर के होने का कोई प्रमाण नहीं।"

प्रोफ़ेसर साहब के मित्र पंडित अयोध्याप्रसाद बी० ए० मुस्किराकर बोले—"तुम्हारे बाप-दादे तो गोबर का ढेर पूजते-पूजते मर गए, और अब तुम ईश्वर पर भी विश्वास नहीं करते!" प्रोफ़ेसर साहब कुछ झेंपकर बोले—"क्यों साहब, इस गोबर के ढेर से आपका क्या तात्पर्य है?"

अयोध्याप्रसाद हँसकर बोले—"यहाँ आप शहर में हैट लगाकर नई सभ्यता की ख़राद पर चढ़ गए हैं; परंतु आपके शरीर में ख़ून दिहाती ही है—यह तो कम-से-कम आपको मानना ही पड़ेगा।"

प्रोफ़ेसर साहब कुछ उत्तेजित होकर बोले—"तो फिर इससे क्या? आख़िर आप दिहातियों से इतनी घृणा क्यों करते हैं? दिहाती क्या मनुष्य............।"

"आप इतने नाराज़ न हों। मैं दिहातियों से घृणा नहीं करता। मैं उनसे प्रेम करता हूँ, परंतु उन दिहातियों से, जो अपना दिहातीपन छिपाने की चेष्टा नहीं करते, जिन्हें अपने दिहातीपन पर गर्व है। परंतु जो लोग कोट, पैंट तथा हैट की आड़ में अपना दिहाती-

पन छिपाकर ठेठ पेरिस के निवासी बनना चाहते हैं, जो अपना दिहातीपन प्रकट करते हुए झेंपते हैं, उनसे मैं अवश्य घृणा करता हूँ।"

"ख़ैर, यह अपनी-अपनी समझ और अपने-अपने विचार हैं। कोई इसे ठीक समझता है, कोई नहीं। मनुष्य उन्नतिशील प्राणी है। मनुष्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि जब वह नीची अवस्था से ऊँची अवस्था पर पहुँच जाय, तो भी अपनी नीची ही अवस्था को प्रकट करने में गर्व समझे। यह तो निरा पागलपन है।"

"निस्संदेह, परंतु यह पागलपन उस दशा में हो सकता है, जब जिसे वह नीची अवस्था समझता हो, वह वास्तव में नीची अवस्था हो।"

"यह अपनी-अपनी रुचि है। हाँ, तो आपने गोबर के ढेर पूजनेवाली बात का उत्तर नहीं दिया।"

अयोध्याप्रसाद उच्च हास्य करके बोले—"वाह, यह ख़ूब रही! इतनी बातें हो गईं और आपको अभी अपनी बात का उत्तर ही नहीं मिला। आपको यह तो मालूम ही है कि दिहातों में गोबर और मिट्टी की मूर्तियाँ पूजने का बहुत चलन है।"

प्रोफ़ेसर साहब अयोध्याप्रसाद की बात का मर्म समझकर बोले—"आप तो हैं बौड़म! बी० ए० तक पढ़कर भी आपको ज़रा तमीज़ न आई। आप ही-ऐसे लोग पढ़े-लिखे मूर्ख कहलाते हैं। जो वस्तु हमारा कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकती, उसका अस्तित्व यदि हम न भी मानें, तो इसमें कोई हानि नहीं। ईश्वर हमारा कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकता, इस कारण वह न होने के तुल्य ही है।"

"तर्क से तो ईश्वर का अस्तित्व कभी प्रमाणित हो ही नहीं सकता।"

"तो फिर काहे से प्रमाणित हो सकता है ?"

"केवल अनुभव से।"

"यह आपकी लचर दलील है।"

"आप ऐसा ही समझें।"

अयोध्याप्रसाद की इस बात से प्रोफ़ेसर साहब ने उनको अपनी बात का उत्तर देने में असमर्थ समझा। इस कारण प्रसन्नमुख होकर बोले—"इसी से तो कहता हूँ कि तुम लोगों को कोरी बातें ही बनानी आती हैं। प्रमाण-प्रमाण तुम लोगों के पास ख़ाक भी नहीं है। आजकल वह समय नहीं रहा, जब 'बाबा-वाक्यं प्रमाणम्' पर लोगों का विश्वास था। अब तो जिस बात का प्रमाण प्रत्यक्ष हो, वही ठीक समझी जाती है। (मुस्किराकर) जौनी बात का हमरे पास प्रमाण होई, तौनि तौ हम मानब, दादा, और जौनी का न होई, तौन न मानब; चाहे ब्रह्मै काहे न कहैं।" अयोध्या-प्रसाद मुस्किराकर बोले—"देखिए-देखिए, आपका दिहातीपन फिर ज़ोर पकड़ रहा है। इसे ज़रा सँभालिए। इस हैट और कोट की सारी शान मिट्टी में मिली जा रही है।"

प्रोफ़ेसर साहब कुछ लज्जित होकर बोले—"दिहाती तो भाई हम हैं ही, इसमें संदेह ही क्या है ? और, हमारी मातृभाषा भी दिहाती ही है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम हैट-कोट पहनें ही न।"

(२)

प्रोफ़ेसर कुंजविहारी की अर्द्धांगिनी सुखदेई बड़ी धार्मिक हैं। पूजा-पाठ इत्यादि में उन्हें बड़ी रुचि है। नित्य प्रातःकाल दो-तीन घंटे पूजा-पाठ करती हैं। प्रोफ़ेसर साहब को उनकी यह धार्मिकता एक आँख नहीं भाती। वह इसे केवल ढोंग समझते हैं। कई बार प्रोफ़ेसर साहब ने स्त्री के इस कार्य का घोर प्रतिवाद किया; परंतु

अर्द्धांगिनी ने उनकी एक न मानी, और बराबर अपना कार्य करती रही। उक्त घटना के कुछ दिनों बाद एकाएक प्रोफ़ेसर साहब का पुत्र, जिसकी आयु तीन वर्ष के लगभग थी, बीमार हो गया। प्रोफ़ेसर साहब डॉक्टरी चिकित्सा करने लगे।

दूसरे दिन प्रातःकाल सुखदेई ने पति से कहा—"तुम ज़रा राधे (लड़के का नाम) को थोड़ी देर अपने पास रख लो, मैं पूजा कर लूँ।"

प्रोफ़ेसर साहब बिगड़कर बोले—"चूल्हे में गई तुम्हारी पूजा ! क्या होगा पूजा करने से ?"

सुखदेई के हृदय में पति के ये वाक्य बाण-से लगे; परंतु वह उसी प्रकार गंभीरता-पूर्वक बोली—"मेरा यह नित्य का नेम (नियम) है; मैं इसे तोड़ना अच्छा नहीं समझती। थोड़ी देर की तो बात ही है, इसे लिए रहो।"

सुखदेई यह कहकर और पति के उत्तर की प्रतीक्षा न करके राधे को प्रोफ़ेसर साहब की गोद में देकर चली गई।

प्रोफ़ेसर साहब कुढ़कर मन-ही-मन बोले—मूर्खा स्त्रियों से इसके सिवा और आशा ही क्या की जा सकती है ? जब देखो, तब पूजा-पाठ ! न-जाने इससे लोगों को क्या मिलता है ? एक कल्पित नाम के पीछे सारा संसार मिटा जा रहा है। आज तक किसी ने ईश्वर की झलक तक नहीं देखी; परंतु, फिर भी, इस अंध-विश्वास का पीछा नहीं छोड़ते। मैं शीघ्र ही इस विषय पर एक पुस्तक लिखूँगा और उसमें ईश्वरवादियों को इतना फटकारूँगा कि वे भी याद करेंगे।

इसके बाद जब प्रोफ़ेसर साहब का क्रोध शांत हुआ, तब उनका ध्यान राधे के सिर की ओर गया। सिर की ओर कुछ देर तक ताकते रहकर वह सोचने लगे—प्रकृति भी कैसी बुद्धिमती है। उसने

मनुष्य का सिर गोल बनाया है, चौखूँटा नहीं बनाया; कारण, उसे यह मालूम था कि एक तो सिर चौखूँटा होने से देखने में बुरा मालूम होगा, दूसरे लेटने और करवट बदलने में प्राणियों को कष्ट होगा।

प्रोफ़ेसर साहब इसी तरह की बातें सोचते रहे। कभी बालों के बारे में सोचते थे कि प्रकृति ने मनुष्य के सिर पर इतने बाल क्यों उत्पन्न किए? इस प्रकार एक घंटा बीत गया। एक घंटे के बाद सुखदेई ने पूजा-पाठ से छुट्टी पाई और प्रोफ़ेसर साहब को प्रकृति की अद्भुत लीलाओं पर विचार करने से मुक्त किया। प्रोफ़ेसर साहब राधे को सुखदेई की गोद में देकर बोले—"तुम्हें तो अपनी पूजा-पाठ की पड़ी रहती है, लड़के की कोई फ़िक्र नहीं। तुम्हें यह मालूम रहना चाहिए कि हमारे लिये पूजा-पाठ से अधिक मूल्यवान् राधे है; इसलिये अब इसी का पूजा-पाठ किया करो।"

सुखदेई गंभीर होकर बोली—"मैं इसी का पूजा-पाठ करती हूँ।"

प्रोफ़ेसर ने ताने के तौर पर कहा—"तो इस समय भी शायद तुमने इसी की पूजा की है?"

सुखदेई—"इसकी नहीं की, पर इसी के लिये की है।"

प्रोफ़ेसर—"इस पूजा से क्या होगा?"

सुखदेई—"ईश्वर इसे अच्छा कर देगा।"

प्रोफ़ेसर—(घृणा से हँसकर) "तो ईश्वर तुम्हारे कहने में है?"

सुखदेई—"कहने में वह किसी के नहीं है। पर जो उसका ध्यान हृदय से करते हैं, उन पर वह अवश्य दया करते हैं।"

प्रोफ़ेसर—"ईश्वर है क्या चीज़, तुम्हें यह भी मालूम है, या ख़ाली ईश्वर का नाम ही सुन लिया है?"

सुखदेई—"ख़ाली नाम ही नहीं सुना, मुझे उन पर विश्वास है।"

प्रोफ़ेसर—"मिथ्या बातों पर भी लोगों का विश्वास जम सकता है।"

यह कहकर प्रोफ़ेसर साहब सुखदेई के पास से चले गए।

(३)

राधे की दशा प्रतिदिन बिगड़ने लगी। प्रोफ़ेसर साहब ने यथा-शक्ति चिकित्सा कराई ; पर कोई अच्छे लक्षण न दिखाई दिए। जैसे-जैसे राधे की दशा बिगड़ने लगी, वैसे-वैसे प्रोफ़ेसर साहब सुख-देई की ईश्वराराधना से अधिक असंतुष्ट रहने लगे। एक दिन उन्होंने सुखदेई से स्पष्ट कह दिया—"तुम्हारी लापर्वाही से लड़के की दशा बिगड़ती जाती है और तुम अंध-विश्वास के फेर में पड़ी हुई हो। तुम दवा-दारू की कुछ पर्वा नहीं करतीं ; नियम से दवा नहीं खिलातीं। याद रक्खो, जो राधे को कुछ हो गया, तो तुमको इसका उत्तरदाता बनना पड़ेगा।"

सुखदेई—"मुझे दवाओं पर उतना विश्वास नहीं, जितना ईश्वर की दया और शक्ति पर है।"

अर्द्धांगिनी के इस उत्तर से प्रोफ़ेसर साहब आग हो गए। मारे क्रोध के उनका मुँह लाल हो गया। वह कर्कश स्वर में बोले—"भाड़ में गया तुम्हारा ईश्वर और उसकी शक्ति! दवाएँ, जो प्रत्यक्ष फल दिखाती हैं, उन पर तुम्हें विश्वास नहीं, और सादे तीन अक्षरों के शब्द पर इतना विश्वास है? मैं आज तुम्हारे इस अंध-विश्वास को अवश्य दूर करूँगा।"

यह कहकर प्रोफ़ेसर साहब लपकते हुए सुखदेई के पूजा-गृह में गए, सुखदेई की पूजन-सामग्री तथा मूर्तियाँ उठाकर इधर-इधर फेंक दीं, और उसी प्रकार ताव-पेंच खाते हुए लौटकर सुखदेई से बोले—

"देखूँ, अब ये तुम्हारी मूर्तियाँ और तुम्हारा ईश्वर मेरा क्या कर लेता है !"

पति के इस कार्य को देखकर सुखदेई का चेहरा पीला पड़ गया। उसकी आँखों से अश्रु-धारा फूट निकली। वह पति की ओर दोनो हाथ फैलाकर रोते हुए बोली—"हाय, यह तुमने क्या किया ! तुमने मेरा सारा परिश्रम मिट्टी में मिला दिया। अभी तक मुझे पूरी आशा थी, पर अब मेरी सारी आशा टूट गई। थोड़ी देर पहले जिस बात का उत्तरदाता तुम मुझे बना रहे थे, इस कार्य के करने से अब तुम आप ही उसके उत्तरदाता बन गए। हाय ईश्वर, अब क्या होगा……!"

(४)

रात के आठ बजे हैं। राधे बेहोशी की दशा में पलँग पर पड़ा हुआ है। पलँग के एक ओर सुखदेई तथा दूसरी ओर प्रोफ़ेसर साहब बैठे हैं। प्रोफ़ेसर साहब के मुख पर चिंता तथा दुःख के भाव स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहे हैं। सुखदेई के मुख पर गंभीरता है। परंतु उस गंभीरता के नीचे हार्दिक वेदना, भय तथा चिंता की झलक फूट निकलने की चेष्टा कर रही है। डॉक्टरों ने आज की रात राधे के लिये कठिन बतलाई है। उन्होंने साफ़-साफ़ कह दिया है कि आज रात को राधे का बचना अत्यंत कठिन है, परंतु जो आज की रात सकुशल बीत गई, तो फिर वह अमर है। प्रोफ़ेसर साहब क्षण-क्षण पर राधे की नाड़ी देखते हैं। नाड़ी देखने पर कभी उनका चेहरा खिल उठता है, और कभी मुरझा जाता है। सुखदेई चुपचाप बैठी है। उसकी दृष्टि केवल राधे के मुख की ओर है। प्रोफ़ेसर साहब बार-बार घड़ी की ओर देखते हैं। उन्हें आज घड़ी की सुइयों की चाल बहुत धीमी जान पड़ती है। कभी-कभी तो उन्हें घड़ी के बंद हो जाने का भ्रम हो जाता है। जितनी देर में

सुखदेई—"देखो, मैं तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि अब उनके विषय में कोई कटु वाक्य न निकालना।"

प्रोफ़ेसर साहब चुप हो गए। उन्होंने फिर राधे की नाड़ी पर हाथ रक्खा। नाड़ी पर हाथ रखते ही वह चिल्ला उठे—"लो, राधे की मा, अब यह कुछ ही देर का मेहमान है। (फिर रोकर) बोलो, अब क्या उपाय किया जाय?"

सुखदेई उठकर खड़ी हो गई। उसके मुख पर एक दिव्य ज्योति का प्रादुर्भाव हुआ। उसने कहा—"एक बार चेष्टा करती हूँ। तुम भी चेष्टा करो। झुको, घुटने टेक दो।"

प्रोफ़ेसर साहब सुखदेई के मुख की ज्योति देखकर स्तंभित हो गए। इस समय उन्होंने अपने को सुखदेई के सामने वैसे ही समझा, जैसे एक बालक अपने को गुरु के सामने समझता है, अथवा नौकर अपने को मालिक के सामने। उन्हें सुखदेई की आज्ञा टालने का साहस न हुआ, तुरंत घुटने टेककर बैठ गए।

सुखदेई बोली—"ध्यान करो, ईश्वर को सर्वशक्तिमान् समझते हुए सच्चे हृदय से उसका ध्यान करो। अपने पिछले कामों के लिये सच्चे जी से पश्चात्ताप करो। बस, अब केवल यही उपाय है।"

प्रोफ़ेसर साहब ने आँखें बंद कर लीं। उनके मुख से केवल इतना निकला—"ईश्वर?.........।", और वह उसी अवस्था में समाधिस्थ-से हो गए।

(५)

अयोध्याप्रसाद शाम को घूमकर अपने निवास-स्थान पर लौटे। कमरे में पहुँचते ही उन्होंने मेज़ पर एक पत्र पड़ा हुआ देखा। पत्र खोला। उसमें लिखा था—

प्रियवर अयोध्याप्रसाद

तुम तो बनारस में ऐसे रम गए कि अभी तक लौटने का नाम ही न लिया। कब तक लौटने का विचार है ? अब आपका स्वास्थ्य कैसा है ? ईश्वर करे, पहले से अच्छा ही हो। चौंको मत, मैं अब ईश्वरवादी हो गया हूँ। तुम्हारे कथनानुसार किसी तर्क से नहीं, वरन् अनुभव से। मिलने पर वृत्तांत कहूँगा। राधे को आज पथ्य दिया गया है। यदि तुम्हारा स्वास्थ्य पहले से ठीक हो, तो चले आओ।

तुम्हारा स्नेहास्पद
कुंजविहारी

अयोध्याप्रसाद ने मुस्किराकर पत्र मेज़ पर रख दिया और आप-ही-आप बोले—इस कट्टर नास्तिक को ऐसा कौन-सा अनुभव हुआ, जिसने इसे आस्तिक बना दिया !

नर-पशु

(१)

पं० अंबिकाप्रसाद मध्यम श्रेणी के आदमी हैं। पढ़े-लिखे आप अच्छे हैं। अँगरेज़ी में बी० ए० की डिग्री प्राप्त की है। संस्कृत भी जानते हैं। हिंदी तो मातृभाषा ही है। उर्दू में भी आपकी यथेष्ट गति है।

आप एक कॉलेज में प्रोफ़ेसर हैं। ढाई सौ रुपए वेतन मिलता है। आपके परिवार में पाँच आदमी हैं। स्वयं आप, आपकी स्त्री, आपकी माता, एक विधवा चाची और एक आपका छोटा भाई, जो नाइंथ क्लास में पढ़ता है।

शाम के चार बज चुके थे। सहसा पं० अंबिकाप्रसाद की अर्द्धांगिनी गायत्रीदेवी ने चौंककर अपनी सखी से कहा—"क्यों बहन प्रेमा, इस समय क्या बजा होगा? तुम्हारे यहाँ तो कोई घड़ी भी नहीं।"

प्रेमा ने कुछ झेंपकर कहा—"बहन, हम लोगों के यहाँ घड़ी का क्या काम? घड़ी तो दफ़्तर के बाबू लोगों को चाहिए।"

गायत्री कुछ बेचैन होकर बोली—"न-जाने क्या बजा होगा? अच्छा बहन, अब जाती हूँ; फिर किसी दिन आऊँगी।"

प्रेमा ने मुख भारी करके कहा—"अरे बैठो भी, न-जाने कितने दिनों बाद तो आई हो, जल्दी क्या पड़ी है, चली जाना।"

गायत्री—"बहन, तुम तो ऐसी बातें करती हो, जैसे बरसों बाद मिली हो। घर से घर मिला है, छत से छत मिली है, रोज़ बातचीत होती रहती है, फिर भी तुम्हारा पेट नहीं भरता?"

प्रेमा—"वह बात दूसरी है, हमारे घर तो तुम बहुत दिनों में आई हो।"

गायत्री मुस्किराकर खड़ी हो गई, और एक अँगड़ाई लेकर बोली—"बहन, बैठती तो अभी कुछ देर और, पर दिन ढल चुका है। उनके आने का समय निकट आ रहा है। तुम तो उनका सुभाव (स्वभाव) जानती ही हो, ज़रा-ज़रा-सी बात में हाथ चला बैठते हैं।"

प्रेमा—"हाँ, सुभाव तो बड़ा बुरा है। मैं सच कहूँ बहन, तुम्हीं ऐसी हो, जो सह लेती हो, मैं तो कभी न सहूँ।"

गायत्री एक दीर्घ निःश्वास लेकर बोली—"सहूँ, न तो क्या करूँ? एक आदमी का सुभाव ही पड़ गया, तो फिर क्या किया जाय? सहना ही पड़ता है। अच्छे को तो सब निभा लेते हैं, बात तो तब है, जब बुरे को निभावे।"

प्रेमा—"हाँ बहन, तुम्हारे मुँह से यही शोभा देता है।"

गायत्री प्रेमा से विदा होकर अपने घर आई। घर आकर वह सीधी अपने कमरे की ओर गई। कमरे के द्वार पर पैर रखते ही उसने देखा, पति महाशय कमीज़ और धोती पहने कुर्सी पर बैठे हैं। उनके माथे पर बल पड़े हुए हैं। गायत्री का कलेजा धड़कने लगा। उसने सोचा—ग़ज़ब हुआ, इन्हें आए न-जाने कितनी देर हुई। मैं यहाँ उपस्थित न थी।

वह डरती हुई दबे पाँव कमरे के अंदर पहुँची। अंबिकाप्रसाद ने आहट पाकर उसकी ओर देखा, उनके ललाट की रेखाएँ अधिक सघन हो गईं। उन्होंने गायत्री की ओर घूरकर देखा। गायत्री के हृदय की धड़कन बढ़ गई।

अंबिकाप्रसाद ने कर्कश स्वर में कहा—"मुझे आए तीन घंटे हो चुके और तुम्हारा पता नहीं!"

गायत्री चौंक पड़ी—ऐं ! तीन घंटे ? उसकी दृष्टि दीवार पर लगी हुई घड़ी की ओर गई। घड़ी में पौने चार बजे थे। उसने सोचा—रोज़ साढ़े तीन बजे आते हैं, कभी-कभी सवातीन बजे भी आ जाते हैं, इस हिसाब से तो अधिक-से-अधिक इन्हें आए आध घंटा हुआ होगा। आधघंटे को तीन घंटे बता रहे हैं।

गायत्री को चुप देखकर अंबिकाप्रसाद का क्रोध और बढ़ा। वह कुछ अधिक बिगड़कर बोले—"दिन-दिन तुम बिगड़ती ही चली जाती हो। एक आदमी समझाने-बुझाने से मान जाता है, पर तुम्हारी समझ दीमक चाटे जाती है। वही मसल है कि 'लातों का आदमी बातों से नहीं मानता।' मैं दिन-भर मर-पचकर थका-माँदा घर आता हूँ, और तुम्हारा पता नहीं रहता; सखियों के साथ गुल-छर्रे उड़ाया करती हो।"

गायत्री का शरीर काँपने लगा। उसे प्रेमा पर बड़ा क्रोध आया—उसी राँड़ ने मुझे रोक लिया, नहीं मैं तो कभी की आ गई होती। मैंने निगोड़मारी से कहा कि मुझे जाने दे, पर न मानी।

गायत्री को मूर्ति की तरह खड़े देखकर अंबिकाप्रसाद फिर बोले—"आख़िर तुम गई कहाँ थीं ? कुछ मालूम भी तो हो !"

गायत्री ने धीमे स्वर में उत्तर दिया—"प्रेमा के यहाँ गई थी।"

अंबिका०—"क्यों गई थीं ? कोई काम-काज था ? उसके यहाँ कोई उत्सव था, कोई ब्याह-शादी थी, कोई नाच-गाना था—आख़िर क्या था, जो तुम गई थीं ?"

गायत्री मौन रही।

अंबिकाप्रसाद चिल्लाकर बोले—"बोलती नहीं हरामज़ादी ?"

गायत्री आँखों में आँसू भरकर बोली—"उसने कई बार कहा था कि एक दिन हमारे घर आओ, इसी से चली गई थी। जाती बेर

माजी से पूछ लिया था। उन्होंने कह दिया था कि चली जा, तब गई थी।"

गायत्री ने माजी अर्थात् अपनी सास का नाम इसलिये लिया कि कदाचित् यह जानकर कि माजी ने आज्ञा दे दी है, पति महाशय का क्रोध शांत हो जाय, परंतु अंबिकाप्रसाद बोले—"क्या उन्होंने यह भी कह दिया था कि दिन-भर वहीं बैठी रहना? और अगर उन्होंने कहा भी हो, तो तुझे स्वयं ध्यान रखना चाहिए। इतनी बड़ी लूँबड़ हो गई, पर तुझे इतना ध्यान नहीं—क्यों?"

गायत्री कुछ उत्तेजित होकर बोली—"तो जो थोड़ी देर हो ही गई, तो क्या हुआ? कहीं और तो गई नहीं थी, और माजी से पूछकर गई थी।"

इतना सुनते ही अंबिकाप्रसाद बड़े ताव में उठे, और गायत्री के पास पहुँचकर उन्होंने उसके दो-तीन तमाचे मार ही तो दिए। तत्पश्चात् उसे धकियाकर बोले—"जा हरामज़ादी, वहीं जाकर बैठ। माजी पर फूली बैठी है। हम कुछ न हुए, माजी सब कुछ हो गईं। माजी का कहना ब्रह्म-वाक्य है—चल, दूर हो मेरे सामने से।"

धक्का लगने से गायत्री दीवार से टकराकर गिर पड़ी, सिर में चोट लगी; परंतु बेचारी करती क्या, चुपचाप आँचल से मुख ढककर रोने लगी।

(२)

पं० अंबिकाप्रसाद मेज़ पर हाथ पटककर बोले—"स्वराज्य हमें अवश्य मिलना चाहिए। स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। प्रकृति को देखिए, वह किसी को भी पराधीन उत्पन्न नहीं करती। पशु-पक्षी सब स्वाधीन होते हैं। अपनी स्वाधीनता को बचाने और उसे स्थिर रखने के लिये उनमें भी स्वाभाविक

प्रेरणा होती है। वे भी अपने को पराधीनता से बचाने के लिये अपने प्राण तक दे देते हैं। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि मनुष्य को यह अधिकार ही नहीं कि वह किसी मनुष्य को ग़ुलाम बनाकर रक्खे, पराधीन बनाकर रक्खे, उस पर हुक्म चलावे। सब मनुष्यों के अधिकार बराबर हैं। जितना अधिकार आपको मुझ पर हुक्म चलाने का है, उतना ही अधिकार मुझे आप पर भी है। मैं तो संसार में सबसे बड़ा पाप किसी की स्वाधीनता और स्वतंत्रता के अपहरण को समझता हूँ। यह ऐसा पाप है कि इसका कोई प्राय-श्चित्त ही नहीं।"

पं० अंबिकाप्रसाद की यह ज़ोरदार बात सुनकर उनकी मित्र-मंडली में सन्नाटा छा गया।

कुछ क्षण पश्चात् उनके एक मित्र मुरारीलाल बोले—"आपके विचार मेरे विचारों से पूरा-पूरा मेल खाते हैं।"

दूसरा—"आप लोगों के विचार बड़े उत्तम हैं। यदि ऐसे ही विचारवाले लोग उत्पन्न हों, तो भारत की काया पलट जाय।"

पं० अंबिकाप्रसाद उत्तेजना से भरे बैठे थे। उन्होंने कहा—"बड़ा भारी ग़ज़ब तो यह है कि लोग अपने ही सिद्धांतों के प्रतिकूल कार्य करते हैं। मुँह से बकने को तो बड़े-बड़े सिद्धांत और ऊँचे-ऊँचे विचार बक जायँगे, पर ढोल के अंदर पोल ही रहेगी। जितना कहेंगे, स्वयं उसका अष्टमांश भी न करेंगे। मुझे इस बात से बड़ी घृणा है। मेरा पहला सिद्धांत यह है कि उसी सिद्धांत का प्रचार करो, जिसे तुम कार्य-रूप में परिणत कर चुके हो।"

अंबिकाप्रसाद के एक मित्र ने अपने दूसरे मित्र की ओर देखकर कहा—"देखा आपने, पंडितजी के कितने उत्तम विचार हैं?"

अंबिकाप्रसाद बोले—"मेरे यहाँ जितने नौकर हैं, सबको इतनी स्वाधीनता और स्वतंत्रता प्राप्त है कि कदाचित् ही किसी के यहाँ

वैसी स्वाधीनता मिले। यही कारण है कि वे मेरे यहाँ की नौकरी नहीं छोड़ते, चाहे दूसरी जगह उन्हें दूनी तनख़्वाह मिले।"

पं० अंबिकाप्रसाद के दो-एक मित्र सिर हिलाकर बोले—"यही बात है।"

एक साहब बोले—"हमारे बैंक के ख़ज़ानची पंडितजी के कहार को सोलह रुपए देते रहे, पर उसने उनके यहाँ नौकरी करना स्वीकार न किया।"

अंबिकाप्रसाद बोल उठे—"और मेरे यहाँ केवल आठ रुपए पाता है। इस बात को देखिए। इसका कारण क्या है? वही, जो मैं अभी कह चुका। मेरे यहाँ उसे पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है। मनुष्य बड़ा स्वाधीनता प्रेमी है। मनुष्य ही क्यों, सारा विश्व ही स्वाधीनता-प्रेमी है। पशु पक्षी आदि स्वाधीन और स्वतंत्र रहने में कितने हृष्ट-पुष्ट रहते हैं। बँधे हुए और पिंजड़े में बंद पशु-पक्षी कभी हृष्ट-पुष्ट नहीं देखे जाते, उन्हें चाहे जितना अच्छा भोजन दिया जाय। मैंने स्वाधीनता पर एक लेख लिखकर 'मॉडर्न रिव्यू' में भेजा था। लोगों ने उस लेख की इतनी प्रशंसा की कि मैं कह नहीं सकता।"

मुरारीलाल बोल उठे—"निस्संदेह, वह लेख ऐसा ही था। आप जिस विषय पर लिखते हैं, बड़ा सुंदर लिखते हैं।"

ठीक उसी समय एक और महाशय पधारे। उन्हें देखते ही अंबिकाप्रसाद बड़ी प्रसन्नता से बोले—"आइए त्रिवेदीजी। कहिए, सब कुशल है?"

त्रिवेदीजी बैठते हुए बोले- "सब आपकी कृपा है। क्या बातचीत हो रही थी?"

अंबिकाप्रसाद मुस्किराकर बोले—"स्वाधीनता पर बातचीत हो रही थी।"

त्रिवेदीजी कुछ गंभीर होकर बोले—"हाँ, स्वाधीनता का विषय

तो बड़ा गंभीर है। इस पर तो मैंने एक आपका लेख भी कहीं देखा था।"

मुरारीलाल बोले—"'मॉडर्न रिव्यू' में निकला था।"

त्रिवेदीजी—"ठीक, 'मॉडर्न रिव्यू' ही में देखा था। अच्छा लेख है। आप कभी हमारे पत्र पर कृपा नहीं करते।"

अंबिकाप्रसाद मुँह बनाकर बोले—"हिंदी, हिंदी में तो लेख कुछ गठता नहीं।"

त्रिवेदीजी—"हिंदी से आपको इतनी—क्या कहूँ घृणा कहूँ द्वेष कहूँ उदासीनता कहूँ ?"

अंबिकाप्रसाद हँसकर बोले—"नहीं, यह कोई बात नहीं। हिंदी हमारी मातृभाषा है। मुझे उससे प्रेम है; पर वह अभी इतनी असंस्कृत है कि उसमें हृदय के भाव पूर्ण रूप से प्रकट नहीं किए जा सकते।"

त्रिवेदीजी—"आपकी यह बात किसी अंश तक ठीक है, पर सोचिए तो सही, यदि आप-जैसे लोग उसकी ओर से उदासीन रहेंगे, तो वह परिष्कृत कैसे होगी ?"

अंबिका०—"हाँ, यह बात तो ठीक है।"

त्रिवेदीजी—"फिर कुछ लिखा कीजिए।"

अंबिका०—"अच्छा, लिखूँगा, और स्वाधीनता पर ही लिखूँगा।"

(३)

मनुष्य का हृदय कमज़ोरियों का घर है। जो मनुष्य अपने हृदय से इन कमज़ोरियों को निकाल देता है, वही देवता की पदवी प्राप्त कर लेता है। शिक्षित और अशिक्षित, ज्ञानी और अज्ञानी सज्जन और दुर्जन, उच्चात्मा और नीचात्मा में क्या भेद है ? भेद इन्हीं कमज़ोरियों का है।

जो मनुष्य अपनी कमज़ोरियों को समझते हैं, वे शिक्षित हैं।

जो नहीं समझते, वे अशिक्षित हैं। जिन्हें अपनी कमज़ोरियाँ दूर करने का उपाय मालूम है, वे ज्ञानी हैं। जिन्हें नहीं मालूम, वे अज्ञानी हैं। जो अपनी कमज़ोरियों को कमज़ोरियाँ मानकर उनके दूर करने की चिंता में रहते हैं, वे सज्जन हैं। जो अपनी कमज़ोरियों को कमज़ोरियाँ नहीं मानते, और अपनी एक कमज़ोरी को कमज़ोरी प्रमाणित न होने देने के लिये दस और कमज़ोरियाँ उत्पन्न कर लेते हैं, वे दुर्जन हैं। जो अपनी कमज़ोरियों को दूर करने में सफल होते हैं, वे उच्चात्मा हैं। और, जो उनकी पर्वा नहीं करते, वे नीचात्मा हैं।

सुशिक्षित कहलानेवाले और रात-दिन स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता का राग अलापनेवाले पं० अंबिकाप्रसाद में एक बड़ी कमज़ोरी यह थी कि वह एक ओर तो स्वाधीनता और स्वतंत्रता के बड़े भारी पोषक बनते थे, परंतु दूसरी ओर बड़ी निर्दयता के साथ उसी स्वाधीनता की हत्या करते थे। लोग इसे ढोंग भी कह सकते हैं; क्योंकि एक ओर कुछ करना और दूसरी ओर कुछ करना ही ढोंग कहलाता है। ढोंग भी एक प्रकार की कमज़ोरी है। नाम, प्रतिष्ठा, आदर अथवा अन्य किसी स्वार्थ के लोभ से मनुष्य कोई बात कहने लगता है; परंतु उसके हृदय की कमज़ोरी उसे उस बात को कार्य-रूप में परिणत नहीं करने देती, और उससे उसके सिद्धांत के प्रतिकूल कार्य कराती है। ऐसा ही मनुष्य ढोंगी कहलाता है।

पं० अंबिकाप्रसाद अपने घर की स्त्रियों पर बड़ा अत्याचार करते थे। ज़रा-ज़रा-सी बात में उन्हें डाँटना-फटकारना, भला-बुरा कहना और हाथ तक चला बैठना उनका नित्यकर्म-सा था। उनका यह सिद्धांत था कि बिना ताड़ना के स्त्रियाँ ठीक नहीं रहतीं। उनकी ताड़ना का अधिकांश भाग बेचारी गायत्री को ही मिलता था। वह बेचारी चुपचाप सब सह लिया करती थी। उसमें इतना साहस ही न था, और न वह इतनी सुशिक्षित थी कि पति के व्यवहारों का

प्रतिवाद करती। वह समझती थी, संसार का चलन ही ऐसा है, पुरुष ऐसा ही करते हैं। स्त्रियाँ सहने के लिये ही बनाई गई हैं। पति के इतना दुर्व्यवहार करने पर भी उसके हृदय में उसके प्रति प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य भाव उत्पन्न नहीं होता था।

(४)

रात के दस बज चुके हैं। गायत्री अपने कमरे में बैठी हुई एक हिंदी की पुस्तक पढ़ रही है। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते उसने घड़ी पर दृष्टि डाली, साढ़े दस बजे थे। गायत्री ने एक अँगड़ाई लेकर पुस्तक एक ओर रख दी और सोचने लगी—दस बज चुके हैं, अभी तक उनका पता नहीं। मैं जब कहीं किसी के यहाँ जाती हूँ, और ज़रा भी देर हो जाती है, तो सैकड़ों बातें कहते हैं, मार तक बैठते हैं, पर आप रात के ग्यारह-ग्यारह, बारह-बारह बजे तक बाहर रहते हैं। मैं यहाँ बैठी सूखा करती हूँ। जब तक वह न आ जावें, तब तक न भोजन कर सकती हूँ, न सो सकती हूँ। क्या उनका यह कार्य ठीक है? ठीक ही होगा। ठीक न होता, तो वह पढ़े-लिखे होकर ऐसा क्यों करते? तो क्या ईश्वर ने स्त्रियों को केवल ग़ुलामी करने ही के लिये उत्पन्न किया है? क्या संसार में सारी सुविधाएँ, सारे सुख पुरुष ही के लिये हैं? अवश्य ऐसा ही होगा; अन्यथा ऐसा होता ही क्यों? शास्त्र और पुराण, सब यही कहते हैं कि स्त्री को पति की आज्ञा माननी चाहिए, उसे पति के सुख का ध्यान रखना चाहिए। पति जिसमें प्रसन्न रहे, संतुष्ट रहे, वही उसे करना चाहिए। शास्त्र और पुराण में कही गई बात ठीक ही होती है। सब लोग उसे ठीक मानते हैं, तब मुझे भी उसे ठीक ही मानना चाहिए। लोग कहते हैं, शास्त्र और पुराण की बात न मानने से आदमी नरक में जाता है। नरक—नरक क्या वस्तु है? क्या नरक में इससे भी अधिक कष्ट मिलता है, जो इन पुरुषों के व्यवहार से स्त्रियों को मिल रहा

है ? अवश्य मिलता होगा; नहीं तो लोग नरक से इतना क्यों डरते ?

इस प्रकार की बातें सोचते-सोचते गायत्री को नींद ने आ घेरा। वह आराम-कुर्सी पर लेट रही, और लेटते ही कुछ देर में सो गई। वह सपने में देखने लगी—

अब पं० अंबिकाप्रसाद के स्वभाव में पहले की अपेक्षा आकाश-पाताल का अंतर हो गया है। वह अब गायत्री को बात-बात पर डाँटते-फटकारते नहीं। मारना-पीटना तो अब स्वप्न की-सी बात हो गई है। गायत्री जब कहीं जाना चाहती है, तब अंबिकाप्रसाद उसे तुरंत जाने की आज्ञा देते हैं, और किसी कारण से देर हो जाने पर भी कुछ नहीं कहते। वह अब गायत्री से प्रत्येक बात में सलाह लेते हैं, और जिस काम के लिये गायत्री सलाह नहीं देती, वह काम नहीं करते। यदि वह गायत्री की सलाह ग़लत समझते हैं, तो उसे समझा देते हैं, तब गायत्री अपनी भूल समझ लेती है। गायत्री को अब पहले की तरह पैसे-पैसे के लिये पति का मुँह नहीं देखना पड़ता। अब रुपया-पैसा गायत्री के ही हाथ में रहता है। गायत्री भी अब किफ़ायत के साथ काम करती है। अब उसके पति महाशय रात के बारह-बारह बजे तक बाहर नहीं रहते। यदि कभी किसी कारण से रहने की आवश्यकता पड़ती है, तो गायत्री से कह जाते हैं कि हमारी प्रतीक्षा न की जाय। अब जिस समय गायत्री अपनी वर्तमान स्थिति से पूर्व-स्थिति की तुलना करती है, तो उसे मालूम होता है कि वर्तमान स्थिति और पूर्व-स्थिति में स्वर्ग और नरक का अंतर है। पूर्व-स्थिति नरक थी—वर्तमान स्थिति स्वर्ग है। गायत्री अब अपने स्त्री-जीवन पर दुखी नहीं है; क्योंकि उसे अब मालूम हो गया है कि स्त्रियाँ भी सांसारिक सुख भोग सकती हैं। आज पं० अंबिकाप्रसाद बनारस जा रहे हैं। गायत्री की बड़ी इच्छा है कि

वह काशी-धाम में जाकर विश्वनाथजी के दर्शन करे। उसने सकु-चाते हुए कहा—"काशी देखने की मेरी बड़ी इच्छा है।" पंडितजी मुस्किराकर बोले—"क्या चलोगी ?" गायत्री ने कहा—"चलती तो, पर तुम न-जाने किस काम से जाते हो, मेरे चलने से उसमें कुछ विघ्न न पड़े ?" पंडितजी ने कहा—"मैं काम-वाम से कुछ भी नहीं जाता, केवल घूमने जा रहा हूँ। यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो तुम भी चलो, मैं ले चलने को तैयार हूँ।" गायत्री अत्यंत प्रसन्न होकर बोली—"सच, मुझे ले चलोगे ?" पंडितजी ने कहा—"हाँ, कहता तो हूँ—चलो।" गायत्री ने कहा—"अच्छा, मैं तैयारी किए लेती हूँ।"

यह कहकर गायत्री बड़े चाव से झपटकर उठी। उठते ही आँख खुल गई। सामने पति महाशय खड़े हुए थे। उन्हें देखते ही गायत्री उठकर खड़ी हो गई, और आँखें मलने लगी। पं० अंबिकाप्रसाद कुछ देर तक गायत्री की ओर घूरते रहे, तत्पश्चात् बोले—"क्या ठिकाना है इस आराम-तलबी का! अब तो दिन छिपते ही नींद आ जाती है!"

गायत्री ने घड़ी पर दृष्टि डाली, पौने बारह बजे थे। उसने सोचा—क्या पुरुषों का दिन रात के पौने बारह बजे छिपता है? इतना सोचने पर उसे ध्यान आया—मैं तो नींद में स्वर्ग का सुख लूट रही थी, जागते ही फिर नरक में आ गिरी। इस जागने से तो वह सोना ही भला था। ऐसी नींद सारी उम्र रहे, तो अच्छा।

पं० अंबिकाप्रसाद बोले—"आज शाम ही से मौत आ गई थी! आराम से पैर फैलाकर सो रही! यह ध्यान नहीं था कि मैंने अभी भोजन तक नहीं किया—क्यों ?"

गायत्री ने सोचा—मौत ही आ जाती, तब भी भला था, ऐसे जीवन से तो मौत ही भली।

पं० अंबिकाप्रसाद थोड़ी देर तक बक-झककर चुप हो गए। आज पति महाशय ने अपने कर-कमलों को गायत्री के पापाण-शरीर से दूर ही रक्खा ! इसके लिये गायत्री ने पति महाशय को धन्यवाद दिया अथवा ईश्वर को, कह नहीं सकते।

(४)

जब से गायत्री ने वह सुख-स्वप्न देखा, तब से उसको दिन-रात यही चिंता रहती है कि क्या उसका सुख उसे कभी जाग्रत्-अवस्था में भी प्राप्त हो सकता है ? उसने इस पर जितना ही विचार किया, उतना ही उसे निराश होना पड़ा। उसने समझ लिया कि इस प्रकार स्वामी अपने आप सुधर नहीं सकते। मुझमें उनके सुधारने की शक्ति नहीं और न कोई साधन ही है। इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए।

एक दिन तीन बजे गायत्री अपने कमरे की खिड़की में खड़ी सड़क का दृश्य देख रही थी। उसी समय प्रोफ़ेसर साहब अपनी बाइसिकिल पर घर आ रहे थे। प्रोफ़ेसर साहब ने गायत्री को झाँकते देखा। गायत्री की और उनकी आँखें चार हुईं। गायत्री ने घबराकर खिड़की बंद कर ली। उसका कलेजा धड़कने लगा। उसने सोचा—ईश्वर ही कुशल करे, आज न-जाने कैसी बीते।

प्रोफ़ेसर साहब ताव-पेंच खाते हुए आए, और वस्त्र उतारने के पहले ही गायत्री से बोले—"क्यों हरामज़ादी, सड़क पर क्या झाँक रही थी ?"

गायत्री ने लड़खड़ाती हुई ज़बान से कहा—"कुछ नहीं, ऐसे ही देख रही थी।"

इस पर प्रोफ़ेसर साहब ने कुछ घृणित अपशब्दों का व्यवहार किया। गायत्री उन शब्दों की कटुता को सह न सकी। उसने उत्ते-जित होकर कहा—"तुम वृथा मुझ पर कलंक लगाते हो—न-जाने

तुम्हें क्या हो गया है। मेरे भाग (भाग्य) फूटे थे, जो तुम्हारे पल्ले बँधी। ईश्वर मुझे मौत दे, तो अच्छा है। मैं कुछ बोलती नहीं, इसी से दिन-पर-दिन दबाते ही चले जाते हो। जो तुम्हें मेरी आदतें अच्छी नहीं लगतीं, तो मुझे मायके भेज दो। मैं वहाँ पड़ी रहूँगी; जैसे बनेगा, अपने दिन काटूँगी। तुम्हारा पिंड छूट जायगा—मेरे भाग में जो बदा है, सो होगा।"

इतना सुनते ही प्रोफ़ेसर साहब आपे से बाहर हो गए। उन्होंने एक छड़ी लेकर अबला गायत्री को पीटना शुरू कर दिया।

* * *

इस बार गायत्री के शरीर में तो चोट लगी ही, पर शरीर की अपेक्षा हृदय में अधिक चोट लगी। वह बहुत सख़्त बीमार हो गई। प्रोफ़ेसर साहब 'आग लगाकर पानी को दौड़े' की कहावत के अनुसार ख़ूब दौड़-धूप करने लगे। पर कोई लाभ न हुआ। शरीर की चोट तो अच्छी हो गई; पर हृदय की चोट अच्छी न हुई, बल्कि बढ़ती ही गई। परिणाम यह हुआ कि बेचारी गायत्री इस दुःख-मय संसार से सदैव के लिये बिदा हो गई।

पत्नी की मृत्यु होने पर प्रोफ़ेसर साहब ने बड़ा शोक मनाया। एक स्थानीय पत्र ने प्रोफ़ेसर साहब की पत्नी के देहांत पर इस प्रकार कालम काला किया—"हमारे नगर के प्रतिष्ठित नेता और देश-भक्त प्रोफ़ेसर अंबिकाप्रसादजी की धर्मपत्नी श्रीमती गायत्रीदेवी का, गत सोमवार को ज्वर से पीड़ित होने के कारण, स्वर्गवास हो गया! हमें नहीं सूझता कि इस समय हम प्रोफ़ेसर साहब को किस प्रकार सांत्वना दें; क्योंकि हमें मालूम है कि प्रोफ़ेसर साहब अपनी धर्मपत्नी से बहुत प्रेम करते थे। प्रोफ़ेसर साहब इस वियोग को अपने जीवन में भूल सकेंगे—इसमें संदेह है।

"हम इस घोर दुःख के अवसर पर केवल इतना ही कह सकते

हैं कि ईश्वर श्रीमतीजी की आत्मा को शांति और प्रोफ़ेसर साहब के हृदय में इतना बल दे कि वह इस हृदय-विदारक वियोग को धैर्य-पूर्वक सह सकें।"

पत्र के संपादक को चाहे संदेह हो या न हो, पर हमें इस बात में ज़रा भी संदेह नहीं है कि प्रोफ़ेसर साहब पत्नी की मृत्यु को समस्त आयु न भूलेंगे ; क्योंकि उनकी आत्मा उन्हें यह बात सदैव स्मरण दिलाती रहेगी कि गायत्री की मृत्यु का कारण वही थे। साथ ही ईश्वर को, पत्नी-वियोग सहने के लिये प्रोफ़ेसर साहब को शक्ति देने की, कष्ट उठाने की कोई आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि ईश्वर प्रोफ़ेसर साहब और उनके-से नर-पशुओं को इतनी बुद्धि दे कि वे स्त्री को मनुष्य समझें, और साथ ही उनके हृदय में इतना बल दे कि वे अपनी बुद्धि से लाभ उठा सकें।

अशिक्षित का हृदय

(१)

बूढ़ा मनोहरसिंह विनीत भाव से बोला—"सरकार, अभी तो मेरे पास रुपए हैं नहीं ; होते, तो दे देता। ऋण का पाप तो देने ही से कटेगा। फिर, आपके रुपए का कोई जोखिम नहीं। मेरा नीम का पेड़ गिरवीं धरा हुआ है। वह पेड़ कुछ न होगा, तो पचीस-तीस रुपए का होगा। इतना पुराना पेड़ गाँव-भर में दूसरा नहीं।"

ठाकुर शिवपालसिंह बोले—"डेढ़ साल का व्याज मिलाकर कुल २५) होते हैं। यह रुपया अदा कर दो, नहीं तो हम तुम्हारा पेड़ कटवा लेंगे।"

मनोहरसिंह कुछ घबराकर बोला—"अरे सरकार, ऐसा अंधेर न कीजिएगा, पेड़ न कटवाइएगा। रुपया मैं दे ही दूँगा, यदि न भी दे सकूँ, तो पेड़ आपका हो जायगा। पर मेरे ऊपर इतनी दया कीजिएगा कि उसे कटवाइएगा नहीं।"

ठाकुर शिवपालसिंह मुस्किराकर बोले—"मनोहर, तुम सठिया गए हो; तभी तो ऐसी ऊल-जलूल बातें करते हो। भला, जो पेड़ कटाया न जायगा, तो हमारे रुपए कैसे निकलेंगे ?"

मनोहरसिंह बोला—"अन्नदाता, आपके रुपए तो जहाँ तक होगा, मैं दे ही दूँगा।"

ठाकुर—"अच्छा, अब ठीक-ठीक बताओ कि रुपए कब तक दे दोगे ?"

मनोहर कुछ देर सोचकर बोला—"एक सप्ताह में अवश्य दे दूँगा।"

ठाकुर—"अच्छा, स्वीकार है। एक सप्ताह में दे देना, नहीं तो फिर पेड़ हमारा हो जायगा। हमारी जो इच्छा होगी, वह करेंगे—चाहे कटावेंगे, चाहे रक्खेंगे।"

मनोहर—"और चाहे जो कीजिएगा, उसे कटवाइएगा नहीं, इतनी आपसे प्रार्थना है।"

ठाकुर—"ख़ैर, हमारा जो जी चाहेगा, करेंगे; तुम्हें फिर कुछ कहने का अधिकार नहीं रहेगा।"

(२)

मनोहरसिंह की आयु ५५ वर्ष के लगभग है। अपनी जवानी उसने फ़ौज में व्यतीत की थी। इस समय वह संसार में अकेला है। उसके परिवार में कोई नहीं। गाँव में दो-एक दूर के रिश्तेदार रहते हैं, उन्हीं के यहाँ अपना भोजन बनवा लेता है। न कहीं आता है, न जाता है। दिन-रात अपने टूटे-फूटे मकान में पड़ा ईश्वर-भजन किया करता है।

एक वर्ष पूर्व उसे कुछ खेती कराने की सनक सवार हुई थी। उसने ठाकुर शिवपालसिंह की कुछ भूमि लगान पर लेकर खेती कराई भी थी। पर उसके दुर्भाग्य से उस साल अनावृष्टि के कारण कुछ पैदावार न हुई। ठाकुर शिवपालसिंह का लगान न पहुँचा। मनोहरसिंह को जो कुछ पेंशन मिलती थी, वह उसके भोजन-वस्त्र-भर ही को होती थी। अंत में जब ठाकुर साहब को लगान न मिला, तो उन्होंने उसका एक नीम का वृक्ष, जो उसकी झोपड़ी के द्वार पर लगा था, गिरवीं रख लिया। वह नीम का वृक्ष बहुत पुराना और उसके पिता के हाथ का लगाया हुआ था।

मनोहरसिंह को एक सप्ताह का अवकाश दिया गया। उसने

बहुत कुछ दौड़-धूप की, दो-चार आदमियों से क़र्ज़ माँगा, पर किसी ने उसे रुपए न दिए। लोगों ने सोचा, वृद्ध आदमी है, न-जाने कब ढुलक जाय। ऐसी दशा में रुपया किससे वसूल होगा? मनोहर चारो ओर से हताश होकर बैठा रहा, और धड़कते हुए हृदय से सप्ताह व्यतीत होने की राह देखने लगा।

दोपहर का समय है। मनोहरसिंह एक चारपाई पर नीम के नीचे लेटा हुआ है। नीम की शीतल वायु के झोंकों से उसे बड़ा सुख मिल रहा है। वह पड़ा-पड़ा सोच रहा है कि परसों तक यदि रुपए न पहुँचेंगे, तो ठाकुर साहब इस पेड़ को कटवा डालेंगे। यह पेड़ मेरे पिता के हाथ का लगाया हुआ है। मुझे और मेरे परिवार को दतून और छाया देता रहा है। इसको ठाकुर साहब कटवा डालेंगे!

यह विचार मनोहरसिंह को ऐसा दुःखदायी प्रतीत हुआ कि वह चारपाई पर उठकर बैठ गया और वृक्ष की ओर मुँह करके बोला—"यदि संसार में किसी ने मेरा साथ दिया है, तो तूने। यदि संसार में किसी ने निःस्वार्थ भाव से मेरी सेवा की है, तो तूने। अब भी मेरी आँखों के आगे वह दृश्य आ जाता है, जब मेरे पिता तुझे सींचा करते थे। तू उस समय बिलकुल बच्चा था। मैं तेरे लिये तालाब से पानी भरकर लाया करता था। पिता कहा करते थे—"बेटा मनोहर, यह मेरे हाथ की निशानी है। इससे जब-जब तुझे और तेरे बाल-बच्चों को सुख पहुँचेगा, तब-तब मेरी याद आवेगी।" पिता का देहांत हुए चालीस वर्ष व्यतीत हो गए। उनके कहने के अनुसार, तू सदैव उनकी कीर्ति का स्मरण कराता रहा, और जब तक रहेगा, उनकी याद दिलाता रहेगा। मुझे वह दिन अच्छी तरह याद है, जब मैं अपने मित्रों-सहित तेरी डालियों पर चढ़कर खेला करता था। इस समय संसार में तू ही एक मेरा पुराना मित्र है। तुझे वह दुष्ट काटना चाहता है। हाँ, काटेगा क्यों नहीं। देखूँ, कैसे काटता है!"

इसी समय उधर से एक पंद्रह-सोलह वर्ष का लड़का निकला। वृद्ध मनोहर को बड़बड़ाते देख उसने पूछा—"चाचा, किससे बातें करते हो? यहाँ तो कोई है भी नहीं।"

बुड्ढे ने चौंककर लड़के की ओर देखा, और कहा—"क्या कहूँ बेटा तेजा, अपने कर्म से बातें कर रहा हूँ। ठाकुर शिवपालसिंह के मुझ पर कुछ रुपए चाहिए। तुझे तो बेटा मालूम ही है कि परसाल खेतों में एक दाना भी नहीं हुआ। होता, तो क्या मैं उनका लगान रख लेता? अब वह कहते हैं, लगान के रुपए दो, नहीं पेड़ कटवा लेंगे। इस पेड़ को कटवा लेंगे, जो मेरे बाप के हाथ का लगाया हुआ है। यह बात तो देखो। समय का फेर है, जो आज ऐसी-ऐसी बातें सुननी पड़ती हैं। बेटा, मैंने सारी उमर फ़ौज में बिताई है। बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ और मैदान देखे हैं। यह बेचारे हैं किस खेत की मूली? आज शरीर में बल होता, तो इनकी मजाल थी कि मेरे पेड़ के लिये ऐसा कहते। मुँह नोच लेता! मैंने कभी नाक पर मक्खी नहीं बैठने दी। बड़े-बड़े साहब बहादुरों से लड़ पड़ता था। यह बेचारे हैं क्या! बड़े ठाकुर की दुम बने घूमते हैं। मैं सच कहता हूँ, अभी इस गाँव के डाँड़े पर भी गोली चलने लगे, तो ठाकुर साहब ठकुराइन के लहँगे में दिखलाई पड़ें। मैंने तो तोप के मुँह पर डटकर बंदूकें चलाई हैं। पर बेटा, समय सब कुछ करा लेता है। जिन्होंने कभी तोप की सूरत भी नहीं देखी, वह वीर और ठाकुर बने घूमते हैं। हमें आँखें दिखाते हैं कि रुपए दो, नहीं पेड़ कटवा लेंगे। देखें, कैसे पेड़ कटवाते हैं? लाख बुड्ढा हो गया हूँ, पर अब भी चार-छ के लिये बहुत हूँ। जब तलवार लेकर डट जाऊँगा, तो भागते ही दिखलाई पड़ेंगे। और बेटा, सौ बात की एक बात तो यह है कि मुझे तो अब मरना ही है, चल-चलाव लग रहा है। मैं बड़ी-बड़ी लड़ाइयों से जीता लौट आया।

समझूँगा, यह भी एक लड़ाई ही है। अब इसी लड़ाई में मेरा अंत है। पर इतना समझ रखना कि मेरे जीते-जी इस पेड़ की एक डाल भी कोई काटने नहीं पावेगा। उनका रुपया गले-बरार है। भगवान् जानें; मेरे पास होता, तो मैं दे देता। नहीं है, तो क्या किया जाय! पर यह भी नहीं हो सकता कि ठाकुर साहब मेरा पेड़ कटवा लें, और मैं बैठे टुकुर-टुकुर देखा करूँ।"

तेजा बोला—"चाचा, जाने भी दो, इन बातों में क्या रक्खा है? पेड़ कटवाने को कहते हैं, काट लेने देना। इस पेड़ में तुम्हारा रक्खा ही क्या है? पेड़ तो नित्य ही कटा करते हैं।"

मनोहरसिंह बिगड़कर बोला—"आख़िर लड़के ही हो न! अरे बेटा, यह पेड़ ऐसा-वैसा नहीं है। यह पेड़ मेरे भाई के बराबर है। मैं इसे अपना सगा भाई समझता हूँ। यह मेरे पिता के हाथ का लगाया हुआ है, किसी और के हाथ का नहीं। जब मैं तुमसे भी छोटा था, तब से इसका और मेरा साथ है। मैं बरसों इस पर खेला हूँ, बरसों इसकी मीठी-मीठी निबौलियाँ खाई हैं। इसकी दतून आज तक करता हूँ। गाँव में सैकड़ों पेड़ हैं, पर मुझसे क़सम ले लो, जो मैंने कभी उनकी एक पत्ती तक छुई हो। जब मेरे घर में आप ही इतना बड़ा पेड़ खड़ा हुआ है, तब मुझे दूसरे पेड़ में हाथ लगाने की क्या पड़ी है। दूसरे, मुझे किसी और पेड़ की दतून अच्छी ही नहीं लगती।"

तेजा बोला—"चाचा, बिना रुपए दिए तो यह पेड़ बच नहीं सकता।"

मनोहर—"बेटा, ईश्वर जानता है, मेरे पास रुपए होते, तो मैं आज ही दे देता। पर क्या करूँ, लाचार हूँ। मेरे घर में ऐसी कोई चीज़ भी नहीं, जो बेचकर दे दूँ। मुझे आप इस बात का बड़ा दुख है। गाँव-भर में घूम आया, किसी ने उधार न दिए। क्या

करूँ ? बेटा तेजा, सच जानना, जो यह पेड़ कट गया, तो मुझे बड़ा दुख होगा। मेरा बुढ़ापा बिगड़ जायगा। अभी तक मुझे कोई दुख नहीं था। खाता था, ईश्वर-भजन करता था, पर अब घोर दुख हो जायगा।"

यह कहकर वृद्ध मनोहरसिंह ने आँखों में आँसू भर लिए।

तेजा वृद्ध मनोहरसिंह का कष्ट देख-सुनकर बड़ा दुखी हुआ। तेजासिंह गाँव के एक प्रतिष्ठित किसान का लड़का था। उसका पिता डेढ़-दो सौ बीघे भूमि की खेती कराता था। मनोहरसिंह को तेजा-सिंह चाचा कहा करता था।

तेजा ने कहा—"चाचा, बापू से यह हाल कहा है ?"

मनोहर—"सबसे कह चुका बेटा। तेरा बापू तो अब बड़ा आदमी हो गया है। वह मेरे-जैसे ग़रीबों की बात क्यों सुनने लगा। एक ज़माना था, जब वह दिन-दिन-भर मेरे द्वार पर पड़ा रहता था। घर में लड़ाई होती थी, तो मेरे ही यहाँ भाग आता था, और दो-दो, तीन-तीन दिन तक बना रहता था। वही तुम्हारा बापू अब सीधे बात नहीं करता। इसी से कहता हूँ, समय की बात है।"

तेजा ने पूछा—"कितने रुपए देने से पेड़ बच सकता है ?"

मनोहर—"२५) देने पड़ेंगे।"

तेजा—"२५) तो बहुत हैं चाचा।"

मनोहर—"पास नहीं हैं, तो बहुत ही हैं। होते, तो थोड़े थे।"

तेजा—"दस-पाँच रुपए की बात होती, तो मैं ही कहीं से ला देता।"

मनोहर—"बेटा ईश्वर तुझे चिरंजीव रक्खे। तूने एक बात तो कही। गाँववालों ने तो इतना भी नहीं कहा। ख़ैर, देखा जायगा। पर इतना तू याद रखना कि मेरे जीते-जी इस पेड़ को कोई हाथ नहीं लगाने पावेगा।"

(२)

एक सप्ताह बीत गया। आज आठवाँ दिन है। मनोहरसिंह रुपयों का प्रबंध नहीं कर सका। वह समझ गया कि अब पेड़ का बचना कठिन है। पर साथ ही वह यह भी निश्चित कर चुका था कि उसके जीते-जी कोई उसको नहीं काट सकता। उसने अपनी तलवार भी निकाल ली थी, और साफ़ करके रख ली थी। अब वह हर समय पेड़ के नीचे ही पड़ा रहता था। तलवार सिरहाने रक्खी रहती थी।

आठवें दिन दोपहर के समय शिवपालसिंह ने मनोहरसिंह को बुलवाया। मनोहरसिंह तलवार बग़ल में दाबे अकड़ता हुआ ठाकुर साहब के सामने पहुँचा।

शिवपालसिंह और उनके पास बैठे हुए लोग बुड्ढे को इस सज-धज से देखकर मुस्किराए। शिवपालसिंह ने कहा—"सुनते हो मनोहरसिंह, एक सप्ताह बीत गया, अब पेड़ हमारा हो गया। आज हम उसकी कटाई शुरू कराते हैं।"

मनोहर—"आपको अधिकार है। मुझे रुपया मिलता, तो दे ही देता, और अब भी यदि मिल जायगा, तो दे दूँगा। मेरी नियत में बेईमानी नहीं है। मैं फ़ौज में रहा हूँ, बेईमानी का नाम नहीं जानता।"

शिवपाल—"तो अब हम उसे कटवा लें न?"

मनोहर—"यह मैं कैसे कहूँ, आपका जो जी चाहे, कीजिए।"

यह कहकर मनोहरसिंह उसी प्रकार अकड़ता हुआ ठाकुर शिवपालसिंह के सामने से चला आया और अपने पेड़ के नीचे चारपाई पर आकर बैठ गया।

दोपहर ढलने पर चार-पाँच आदमी कुल्हाड़ियाँ लेकर आते हुए दिखलाई पड़े। मनोहरसिंह झट म्यान से तलवार निकाल

डटकर खड़ा हो गया, और ललकारकर बोला—"सँभलकर आगे बढ़ना ! जो किसी ने भी पेड़ में कुल्हाड़ी लगाई, तो उसकी और अपनी जान एक कर दूँगा।"

मज़दूर बुड्ढे की ललकार सुन और तलवार देखकर भाग खड़े हुए।

जब शिवपालसिंह को यह बात मालूम हुई, तब पहले तो वह बहुत हँसे, परंतु पीछे कुछ सोचकर उनका चेहरा क्रोध के मारे लाल हो गया। वह बोले—"इस बुड्ढे की शामत आई है। हमारा माल है, हम चाहे काटें, चाहे रक्खें, वह कौन होता है ? चलो तो मेरे साथ, देखूँ, वह क्या करता है ?"

शिवपालसिंह मज़दूरों तथा दो लठ-बंद आदमियों को लेकर पहुँचे। उन्हें आते देख बुड्ढा फिर तलवार निकालकर खड़ा हो गया।

शिवपालसिंह उसके सामने पहुँचकर बोले—"क्यों मनोहर, यह क्या बात है ?"

मनोहरसिंह बोला—"बात केवल इतनी है कि मेरे रहते इसे कोई हाथ नहीं लगा सकता। यह मैं जानता हूँ कि अब पेड़ आपका है, मगर यह होने पर भी मैं इसे कटता हुआ नहीं देख सकता।"

शिवपालसिंह—"पर हम तो इसे कटवाए बिना न मानेंगे।"

मनोहरसिंह को भी क्रोध आ गया। वह बोला—"ठाकुर साहब, जो आप सच्चे ठाकुर हैं, तो इस पेड़ को कटवा लें। जो मैं असली ठाकुर हूँगा, तो इसे न कटने दूँगा।"

ठाकुर शिवपालसिंह अपने आदमियों से बोले—"देखते क्या हो ? इस बुड्ढे को पकड़ लो और पेड़ काटना शुरू कर दो।"

ठीक उसी समय तेजासिंह दौड़ता हुआ आया और मनोहरसिंह

को कुछ रुपए देकर बोला—"लो चाचा, ये रुपए; अब तुम्हारा पेड़ बच गया।"

मनोहरसिंह ने रुपए गिनकर ठाकुर शिवपालसिंह से पूछा—"कहिए ठाकुर साहब, रुपए लेना हो, तो ये हाज़िर हैं। और, जो पेड़ कटवाना हो, तो आगे बढ़िए।"

ठाकुर—"रुपए अब हम नहीं ले सकते। रुपए देने की मियाद बीत गई। अब तो पेड़ कटेगा।"

मनोहरसिंह अकड़कर बोला—"ठीक है, अब मालूम हुआ कि आप केवल मुझे दुख पहुँचाने के लिये पेड़ कटवा रहे हैं। अच्छा, कटवाइए। मुझे भी देखना है, आप किस तरह पेड़ कटवाते हैं।"

इतनी ही देर में गाँव-भर में यह ख़बर फैल गई कि शिवपालसिंह मनोहरसिंह का पेड़ कटवाते हैं, पर मनोहरसिंह तलवार खींचे खड़ा है, किसी को पेड़ के पास नहीं जाने देता। यह ख़बर फैलते ही गाँव-भर जमा हो गया।

गाँव के दो-चार प्रतिष्ठित आदमियों ने मनोहरसिंह से पूछा—"क्या बात है मनोहरसिंह?"

मनोहरसिंह सब हाल कहकर बोला—"मैं रुपए देता हूँ, ठाकुर नहीं लेते। कहते हैं, कल तक मियाद थी, अब तो पेड़ कटेगा।"

शिवपालसिंह बोले—"कल तक यह रुपए दे देता, तो पेड़ पर हमारा कोई अधिकार न होता। अब हमारा उस पर पूरा अधिकार है। हम पेड़ अवश्य कटवावेंगे।"

एक व्यक्ति बोला—"जब कल तक इसके पास रुपए नहीं थे, तो आज कहाँ से आ गए?"

शिवपालसिंह का एक आदमी बोला—"तेजा ने अभी लाकर दिए हैं।

गाँववालों के साथ तेजा का पिता भी आया था। उसने यह

सुनकर तेजा को पकड़ा, और कहा—"क्यों बे, तूने ही रुपए चुराए थे ? मैंने दोपहर को पूछा, तो तीन-तेरह बकने लगा था।"

इसके बाद मनोहरसिंह से कहा—"मनोहर, ये रुपए तेजा मेरी संदूक़ से चुरा लाया है। ये रुपए मेरे हैं।"

मनोहर रुपए फेंककर बोला—"तेरे हैं, तो ले जा। मैंने तेरे लड़के से रुपए नहीं माँगे थे!"

फिर मनोहरसिंह ने तेजा से कहा—"बेटा, तूने यह बुरा काम किया! चोरी की! राम-राम! बुढ़ापे में मेरी नाक कटाने का काम किया था। ये लोग समझेंगे, मैंने ही चुराने के लिये तुझसे कहा होगा।"

तेजा बोला—"चाचा, मैं गंगा उठाकर कह सकता हूँ कि तुमने मुझसे रुपए माँगे तक नहीं, चुराने के लिये कहना तो बड़ी दूर की बात है।"

शिवपालसिंह ने हँसकर कहा—"क्यों मनोहर, अब रुपए कहाँ हैं ? लाओ, रुपए ही लाओ। मैं रुपए लेने को तैयार हूँ। अब या तो अभी रुपए दे दो, या सामने से हट जाओ। झगड़ा करने में कोई लाभ नहीं होगा।"

मनोहरसिंह बोला—"ठाकुर साहब, इन तानों से क्या फ़ायदा ? रुपए मेरे पास नहीं हैं, लेकिन पेड़ मैं कटने नहीं दूँगा।"

शिवपालसिंह उपस्थित लोगों से बोले—"आप लोग इस बात को देखिए और न्याय कीजिए। मियाद कल तक की थी, मैं आज भी रुपए लेने को तैयार हूँ। अब मेरा अपराध नहीं। यह बुड्ढा व्यर्थ झगड़ा कर रहा है।"

तेजासिंह यह सुनते ही आगे बढ़ा, और अपनी उँगली से सोने की अँगूठी उतारकर शिवपालसिंह से बोला—"ठाकुर साहब, यह अँगूठी एक तोले की है, आपके रुपए इससे निकल आवेंगे। आप

यह अँगूठी ले जाइए। इस अँगूठी पर बापू का कोई अधिकार नहीं। यह अँगूठी मुझे मेरी नानी ने दी थी।"

सब लोग लड़के की बात सुनकर दंग हो गए।

यह देखकर तेजासिंह का पिता आगे बढ़ा और बोला—"ठाकुर साहब, लीजिए ये पचीस रुपए और अब इस पेड़ को छोड़ दीजिए। आप अभी कह चुके हैं कि रुपए मिल जायँ, तो पेड़ छोड़ देंगे। अतएव अपने वचन का पालन कीजिए।"

ठाकुर साहब के चेहरे का रंग उड़ गया। उन्हें विश्वास हो गया था कि अब मनोहरसिंह को रुपए मिलना असंभव है। इसी से उन्होंने केवल अपनी उदारता दिखाने के लिये रुपए लेना स्वीकार किया था। अब वह कुछ न कह सके। कारण, उन्होंने पचीस-तीस आदमियों के सामने रुपए लेना स्वीकार कर लिया था। वह रुपए लेकर चुपचाप चले गए।

ठाकुर साहब के चले जाने के बाद मनोहरसिंह ने तेजा को बुलाकर छाती से लगाया और कहा—"बेटा, इस पेड़ को तूने ही बचाया, अतएव मैं तुझी को यह पेड़ देता हूँ। मुझे विश्वास हो गया कि मेरे पीछे तू इस पेड़ की पूरी रक्षा कर सकेगा।"

तेजा से यह कहकर उपस्थित लोगों से कहा—"भाइयो, मैं तुम सबके सामने यह पेड़ तेजासिंह को देता हूँ। तेजा को छोड़कर इस पर किसी का कोई अधिकार न रहेगा।"

फिर तलवार म्यान में रखते हुए आप-ही-आप कहा—"पर मेरे जीते-जी कोई पेड़ में हाथ नहीं लगा सकता था, अपनी और उसकी जान एक कर देता। मैंने फ़ौज में नौकरी की है। ब ी-बड़ी लड़ाइयाँ जीती हैं। यह बेचारे हैं क्या चीज़!"

वह प्रतिमा

(१)

स्मृति—वह मर्म-स्पर्शी स्मृति, जो हृदय-पृष्ठ पर करुणोत्पादक भावों की उस पक्की और गहरी स्याही से अंकित की गई है, जिसका मिटना इस जन्म में कठिन ही नहीं, प्रत्युत असंभव है। आह! वह स्मृति कष्ट-दायिनी होने पर भी कितनी मधुर और प्रिय है! उस स्मृति से हृदय जला जाता है, तन-मन राख हुआ जाता है, फिर भी उसे मिटाने की चेष्टा करने को जी नहीं चाहता। वह स्मृति वह मीठी छुरी है, जिसकी तेज़ धार से हृदय लहूलुहान हो रहा है; परंतु उसमें वह मधुरता है, वह मिठास है कि उसे कलेजे से दूर करने को जी नहीं चाहता। क्यों? इसलिये कि वह उस प्रेम-प्रतिमा की स्मृति है, जिसके प्रेम के मूल्य को, जिसकी कर्तव्यशीलता की गहराई को मैं उस समय समझा, जब वह मुझसे सदैव के लिये बिछुड़कर मृत्यु के परदे में अदृश्य हो रही थी। उस प्रेम की पुतली का असली रूप मैंने उस समय देखा, जब मृत्यु की यवनिका के बंधन खुल चुके थे, और वह धीरे-धीरे हम दोनो के बीच गिर रही थी। उसका असली जाज्वल्यमान स्वरूप देखकर मेरी आँखें झपक गईं, और फिर उस समय खुलीं, जब निष्ठुर यवनिका उसे अपनी ओट में छिपा चुकी थी।

* * *

मेरा विवाह उस समय हुआ था, जब मेरी आयु १६ वर्ष की थी। विवाह के दो ही वर्ष बाद गौना भी हो गया था। मेरी स्त्री चमेली

साधारण सुंदरी और कुछ पढ़ी-लिखी भी थी। अधिक सुंदरी न होने पर भी उसमें दो-एक ऐसी बातें थीं, जो हृदय को अपनी ओर उसी प्रकार खींचती थीं, जिस प्रकार सौंदर्य खींच सकता है। वे बातें क्या थीं ? आह ! उनकी याद आने पर आज भी कलेजे में हूक उठती है। सच तो यह है कि केवल उन हाव-भावों पर भी कोई भी सहृदय अनुपम सौंदर्य को भी न्योछावर कर सकता है। वे बातें थीं—उसकी लजीली आँखें, उसकी मंद मुस्कान। उसका लजाकर मंद मुस्कान के साथ आँखें नीची कर लेना बड़े-से-बड़े सौंदर्य का रंग फीका कर देता था। गौना होने के पश्चात् तीन-चार वर्ष तक हम दोनो के दिन बड़े सुख से कटे। इस बीच में दो संतानें भी हुईं। उनमें एक पुत्र अभी तक जीवित है। एक कन्या हुई थी, वह कुछ ही महीनों बाद मर गई। कन्या उत्पन्न होने के पश्चात् हमारे सुखमय जीवन पर पाला पड़ गया। विधाता से हम दोनो का वह जीवन, जिसमें किसी प्रकार के भी दुख का लेश-मात्र न था सीधी आँखों न देखा गया। परिणाम यह हुआ कि चमेली रोग-ग्रस्त हो गई। न-जाने किस अशुभ घड़ी में रोग का आगमन हुआ कि उसने प्राण लेकर ही छोड़ा। रोग था राजयक्ष्मा। यह वह रोग है, जो मनुष्य को घुला-घुलाकर मारता है। इस रोग में मनुष्य बरसों जीवित रहता है, पर स्वस्थ एक क्षण के लिये भी नहीं होता। यही हाल चमेली का भी हुआ। यद्यपि रोग-ग्रस्त होने के पश्चात् वह छ-सात वर्ष तक जीवित रही, परंतु स्वस्थ पूरे एक महीने भी न रही। कभी-कभी ऐसी दशा हो जाती थी कि सरसरी दृष्टि से देखने पर कोई रोग न मालूम होता था ; पर, तब भी उसका जी उदास रहता था। किसी काम में जी न लगता था। केवल इन्हीं बातों से पता चलता था कि रोग ने उस पर से अपना अधिकार नहीं उठाया है।

एक वर्ष तक तो मैं उसकी इस दशा पर बड़ा चिंतित रहा। दवा-दारू भी खूब की। परंतु इसके पश्चात् मेरा जी कुछ ऐसा ऊब उठा कि मैंने उसे ईश्वर के भरोसे पर छोड़ दिया। साधारण रूप से चिकित्सा होने के अतिरिक्त और कोई विशेष चेष्टा न की।

चिकित्सकों से मुझे यह मालूम हुआ था कि राजयक्ष्मा बड़ा संक्रामक रोग है। अतएव आप भी उसी रोग से ग्रस्त हो जाने के भय से मैंने उसके पास बैठना-उठना भी कम कर दिया था। इसके अतिरिक्त एक यह कारण भी था कि उसका कांति-हीन मुख और दुबला-पतला शरीर देखकर मेरा हृदय दुःखित होता था। और, सच तो यह है कि कुछ तो ग्लानि भी होती थी। मेरे परिवार में मेरी माता और दो छोटी-बड़ी भावजें थीं। इस कारण गृहस्थी-संबंधी सब काम वे ही करती थीं। यह भी एक कारण था, जिससे मुझे उससे अधिक संपर्क रखने की आवश्यकता न पड़ती थी। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि दस-दस, पंद्रह-पंद्रह दिन तक उससे मेरी बातचीत तक न होती थी। मेरी इस उदासीनता को चमेली भी जानती थी, पर उसके संबंध में उसने मुझसे कभी शिकायत नहीं की।

(२)

इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत हो गया। इन दिनों मेरी चित्त-वृत्ति बिलकुल बदल गई थी। अब मुझे घर में एक क्षण रहना भी कष्ट-दायक मालूम होता था। जब तक बाहर रहता, चित्त प्रसन्न रहता था; परंतु घर में आते ही चित्त उदास और खिन्न हो जाता था। इसीलिये दिन में केवल दो-तीन घंटे घर में रहता था, और उधर रात को दस-ग्यारह बजे के पहले घर न लौटता था। मुझे नशेबाज़ी इत्यादि दुर्गुणों और दुर्व्यसनों की भी लत पड़ गई थी; क्योंकि मेरा

हृदय सदैव आनंद और प्रसन्नता के लिये लालायित रहता था। इन दुर्व्यसनों में मुझे आनंद मिलता था।

एक दिन मैं दोपहर में बैठा हुआ एक उपन्यास पढ़ रहा था। सहसा किसी के आने की आहट पाकर मैंने सिर उठाया। सामने चमेली को खड़े देखकर कुछ सिटपिटा गया; क्योंकि मैं उससे सदैव अलग-अलग रहने की चेष्टा किया करता था। मैंने शिष्टाचार के नाते चमेली से कहा—"आओ, बैठो, कहो, अब जी कैसा रहता है?"

चमेली मेरे सामने बैठ गई, और उदास स्वर से बोली—"जैसा है, वैसा ही रहता है।"

मैं—"आख़िर कुछ मालूम तो हो, पहले से अच्छा है या कुछ....?"

चमेली—"अच्छा तो क्या, किसी-न-किसी प्रकार जी रही हूँ। जीवन के जितने दिन हैं, वे तो किसी-न-किसी प्रकार पूरे ही करने पड़ेंगे।"

मैं कुछ कहने के अभिप्राय से बोला—"हाँ, यह तो ठीक ही है। क्या कहूँ, इतनी दवा-दारू हुई और हो रही है, पर अभी तक कुछ भी फ़ायदा न हुआ।"

चमेली मेरी इस बात पर कुछ ध्यान न देकर बोली—"आज बीस दिन बाद तुमसे बातचीत करने का अवसर मिला है।"

मैं—"बीस दिन! अभी आठ-दस दिन तो हुए, जब मैं तुमसे मिला था।"

चमेली—"तुम्हें बीस दिन आठ-दस दिन ही समझ पड़ते हैं, पर मेरे लिये तो बीस दिन बीस ही दिन हैं।"

मैंने कुछ लज्जित होकर कहा—"संभव है, बीस दिन हो गए हों। जब से तुम बीमार रहने लगीं, तब से मिलने-जुलने का सुयोग ही नहीं लगता।"

चमेली—"सुयोग तो तब लगे, जब सुयोग के लिये कुछ चेष्टा की जाय।"

मेरा हृदय धड़कने लगा। अंतःकरण पर कुछ चोट-सी लगी, क्योंकि चमेली की इस बात में सत्यता का बहुत कुछ अंश था।

मैंने उपन्यास के पृष्ठ उलटते हुए कहा—"माता इत्यादि के रहते हुए इस प्रकार की चेष्टा करना कुछ भद्दा-सा मालूम होता है।"

कहने को तो यह बात कह गया, परंतु मुझे ख़ुद यह बात बेतुकी-सी मालूम हुई; क्योंकि एक वह समय भी था, जब माता इत्यादि के रहते हुए भी मैं दिन में जितनी बार चाहता था, चमेली से मिलने का सुअवसर उत्पन्न ही कर लेता था।

चमेली ने भी यही बात कही। वह बोली—"मेरे बीमार होने के पहले भी तो माता और भौजाइयाँ थीं।"

इसका उत्तर मैं कुछ न दे सका। मुझे चमेली का बैठना बुरा मालूम हुआ। मैं मन-ही-मन ईश्वर से प्रार्थना करने लगा कि कोई कारण ऐसा उत्पन्न हो जाय, जिससे चमेली मेरे पास से उठ जाय। आह! यह कैसा विकट परिवर्तन था। जिस चमेली के दर्शनों के लिये मैं मकान के कोने और कोठरियों में छिपा खड़ा रहा करता था, उसी चमेली का पास बैठना आज मुझे बुरा मालूम हो रहा था?

चमेली कुछ देर तक चुप रहकर बोली—"लज्जित क्यों होते हो? लज्जित होने का कोई कारण नहीं। मैं इस बात से ज़रा भी रुष्ट नहीं हूँ। मैं जानती हूँ कि मुझमें अब ऐसा कोई आकर्षण नहीं रहा, जो तुम्हें मेरे पास आने के लिये विवश करे।"

मैंने विकल होकर कहा—"आज तुम्हें यह क्या सूझा है, जो वाहियात बातें मुँह से निकाल रही हो?"

चमेली एक लंबी साँस लेकर बोली—"वाहियात बातें नहीं, सची

बातें हैं। मुझे कोई शिकायत नहीं, पर कुछ दुख अवश्य है। तुम्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि सबका जी तुम्हारा-सा नहीं है।"

मैंने कुछ रुष्ट होकर कहा—"देखो चमेला, यदि तुम ऐसी निरर्थक बातें करोगी, तो मैं उठकर चला जाऊँगा।"

चमेली के नेत्रों में आँसू छलछला आए—उन्हीं नेत्रों में, जिन्हें देखकर मैं कभी मतवाला हो जाता था। परंतु आज उन नेत्रों को अश्रु-पूर्ण देखकर मेरा हृदय पसीजा तक नहीं।

चमेली ने कहा—"यदि तुम्हें ये बातें बुरी मालूम होती हैं तो न कहूँगी। हाँ, यदि तुम एक बात मानने का वचन दो, तो कहूँ।"

मैं—"कौन-सी बात ?"

चमेली—"मनोगे ?"

मैं—"यदि मानने योग्य होगी ?"

चमेली—"तुम दूसरा विवाह कर लो।"

मैं चौंक पड़ा—ऐं, दूसरा विवाह! और चमेली खुद उसका प्रस्ताव करे! मैंने कुछ देर तक चुप रहकर कहा—"तुम ऐसा क्यों कहती हो ?"

चमेली—"इसलिये कि तुम्हें उसकी आवश्यकता है। मैं तो इस योग्य ही नहीं रही कि तुम्हारी कुछ सेवा कर सकूँ। इसीलिये दूसरा विवाह कर लेना ठीक है। मेरे लिये तुम अपने जीवन को दुःखमय क्यों बना रहे हो ? इससे मुझे भी बड़ा दुःख है। मैं तुम्हें उदास और चिंतित देखती हूँ। मुझे यह मालूम है कि तुम किसी दिन भी रात को बारह बजे के पहले घर नहीं लौटते। मैं यह जानती हूँ कि घर में तुम्हारा जी नहीं लगता। इन सब बातों का कारण भी मैं जानती हूँ। मैं रात-दिन ईश्वर से यही प्रार्थना किया करती हूँ कि वह मुझे शिघ्र उठा ले, और तुम विवाह करने के लिये स्वतंत्र हो जाओ,

परंतु मेरी प्रार्थना जल्दी स्वीकार होती दिखाई नहीं पड़ती, इस-लिये मैं यह चाहती हूँ कि तुम विवाह कर डालो।"

चमेली की इस बात ने मुझे चिंता-सागर में डाल दिया। कई बार मेरे हृदय में भी यही विचार उत्पन्न हुआ था कि यदि चमेली आरोग्य नहीं होती तो मर ही जाय, और मुझे दूसरा विवाह करने की स्वतंत्रता मिल जाय। ओफ़्! मैं नहीं समझता कि मेरे हृदय में यह विचार कैसे आता था। जिस चमेली का सिर कुछ दुखने से ही मुझे अत्यंत कष्ट पहुँचता था, उसी चमेली का मरना मैं मनाता था! सच तो यह है कि इन्हीं बातों के प्रायश्चित्त-स्वरूप मैं आज घोर मानसिक क्लेश भोग रहा हूँ।

मैंने कहा—"नहीं, मैं विवाह न करूँगा। तुम्हारे रहते मैं विवाह करूँ, ऐसा कभी संभव हो सकता है?"

चमेली—"हानि ही क्या है? जब मैं इसमें राज़ी हूँ, तब तुम क्यों हिचकते हो?"

इच्छा न रहने पर भी मेरे मुँह से सच्ची बात निकल गई। मैंने कहा—"मैं यदि विवाह करने के लिये तैयार भी हो जाऊँ, तो माता और भाई साहब इसे कब स्वीकार करेंगे?"

चमेली—"मैं जब कहूँगी, तो स्वीकार कर लेंगे।"

मैं—"ईश्वर के लिये कहीं ऐसा कर भी न बैठना, नहीं माताजी तो मुझे खा जायँगी। तुम इस फेर में न पड़ो, मैं विवाह-ब्याह कुछ न करूँगा।"

चमेली—"मेरे पीछे तुम दुख क्यों उठाते हो?"

मैं—"मुझे कोई दुख नहीं। केवल तुम्हारी बीमारी और कष्ट से अवश्य दुख होता है; पर उसके लिये क्या किया जाय? ईश्वर ही को मंज़ूर है कि हमें यह दुख हो।"

चमेली ने इस पर कुछ नहीं कहा और थोड़ी देर बाद वह मेरे पास से उठकर चली गई।

(३)

एक वर्ष और व्यतीत हुआ। चमेली की वही दशा थी। न तो रोग-मुक्त होती दिखाई पड़ती थी, और न जीवन-मुक्त। कभी-कभी मुझे उस पर बड़ा तरस आता था। कारण, मृत्यु की प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त उसके लिये संसार में कोई और काम ही न था। संसार में कोई ऐसी वस्तु न थी, जो उसका मनोरंजन कर सकती। परंतु इतना होते हुए भी उसका लक्ष्य मेरे सुख-दुख की ओर विशेष रहता था। वह सदैव मेरे ही सुख-दुख का ध्यान रखती थी। वह मेरे अलग-अलग रहने पर भी मुझे प्रसन्न और सुखी रखने की चिंता में रहती थी। यद्यपि उसका शारीरिक सौंदर्य नष्ट हो गया था ; परंतु हार्दिक सौंदर्य वैसा ही बना हुआ था ; बल्कि पहले की अपेक्षा भी कुछ बढ़ ही गया था। यद्यपि वह पुष्प मुरझा गया था, सूख गया था; परंतु वह गुलाब का पुष्प था कि जो सूख जाने पर भी अपनी सुगंध नहीं छोड़ता। इसके प्रतिकूल मेरे हृदय में कितना गहरा परिवर्तन हो गया था! मेरा हृदय-भ्रमर उस पुष्प की सुगंध की ज़रा भी पर्वा नहीं करता था। भ्रमर को सुगंध से क्या सरोकार? वह तो केवल रस चाहता है। सुगंध होते हुए भी वह नीरस पुष्प के पास नहीं फटकता।

एक दिन मैंने अपने पुत्र ज्ञानू को, जिसकी उम्र उस समय सात वर्ष की थी, किसी साधारण अपराध पर पीट दिया। वह रोता हुआ अपनी मा के पास गया। केवल इसी बात पर चमेली ने दूसरे दिन मुझसे मिलकर कहा—"कल तुमने ज्ञानू को बड़ी बुरी तरह मारा।"

मैंने कहा—"उसने काम ही मार खाने का किया था।"

चमेली आँखों में आँसू भरके बोली—"उसे मारा न करो।"

मैंने कहा—"क्यों?"

चमेली—"मुझे बड़ा दुख होता है।"

मुझे उसकी इस बात पर कुछ हँसी आई। सभी बच्चे कुछ-न-कुछ मारे-पीटे जाते हैं। इसमें इतना दुख अनुभव करने की क्या आवश्यकता? मैंने चमेली से कहा—"अपराध करने पर तो ताड़ना की ही जाती है। इसमें तुम्हारा इतना दुख मानना बिलकुल निरर्थक है।"

चमेली—"मेरे इतना दुख मानने का कारण है।"

मैं—"क्या कारण?"

चमेली—"वह बिन मा का है?"

मैं हतबुद्धि होकर बोला—"बिन मा का है?"

चमेली—"हाँ, मैं ऐसा ही समझती हूँ। मेरे जीवन का क्या भरोसा? मैं अपने को मरा हुआ ही मानती और इसी कारण उसे मातृ-हीन समझती हूँ। यही कारण है कि जब उसे कोई कुछ कहता-सुनता है, तो मुझे बड़ा दुःख होता है। अभी तो जब उसे कोई कुछ कहता-सुनता है, जब कभी तुम मारते-पीटते हो, तब वह आकर मेरी छाती से लग जाता है। मैं उसे हृदय से लगाकर, चुमकार-पुचकार कर शांत कर देती हूँ। पर मेरे पीछे वह किसके पास जायगा, किसके आँचल में मुँह छिपाकर बैठेगा? कौन उसे प्यार करके प्रसन्न करेगा? इसीलिये कहती हूँ कि तुम उसे कुछ न कहा करो।"

चमेली की इस करुण प्रार्थना से कुछ क्षण के लिये मेरा हृदय थर्रा गया। उसके इन शब्दों में न-जाने कितनी प्रबल शक्ति थी कि उसने मेरे पाषाण हृदय को भी ठेस पहुँचाई। मैंने कहा—"अच्छा, अब जहाँ तक हो सकेगा, उसे कुछ न कहा करूँगा।"

° ° °

चमेली का अंत समय निकट था। एक महीना हुआ, उसने चारपाई की शरण ली थी। तब से उसकी दशा दिन-प्रतिदिन बिगड़ती ही गई। वह जिस दिन रात को इस संसार से सदैव के लिये बिदा होनेवाली थी, उसी दिन उसने दोपहर को मुझे अपने पास बुलवाया। मैं उसके पास पहुँचा। मुझे यह तो मालूम था कि अब चमेली थोड़े ही दिनों की मेहमान है, पर स्वप्न में भी यह ख़याल न आया था कि यही दिन उसका अंतिम दिन है। मैं उसके पास बैठ गया, और पूछा—"इस समय कैसा जी है?"

चमेली कुछ मुस्किराई और बोली—"अब जी बहुत अच्छा है।"

मैंने कहा—"बहुत अच्छा तो क्या होगा?"

चमेली—"मेरा चित्त इस समय जितना प्रसन्न है, उतना कभी नहीं रहा।"

मैं—"ये तो तुम्हरी बातें हैं।"

चमेली—"नहीं, मैं सच कहती हूँ।"

मैंने चमेली के मुख को ध्यान-पूर्वक देखा। आज छ वर्ष पश्चात् मुझे उसकी आँखों में, उसके मुख पर वही सौंदर्य दिखाई पड़ा, जो छ वर्ष पूर्व था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि चमेली को कोई रोग ही नहीं; वह बिलकुल स्वस्थ है। न-जाने उस दिन मेरे हृदय में उसके प्रति पहले का-सा प्रेम क्यों उत्पन्न हो गया। छ वर्ष पश्चात् मैंने बड़े प्रेम-पूर्वक उसके सिर पर हाथ फेरकर कहा—"जो तुम्हारी तबियत ऐसी ही रही, तो दो ही-चार दिन में तुम बिलकुल स्वस्थ हो जाओगी।" मेरा प्रेम-व्यवहार देखकर चमेली ने मंद मुस्कान के साथ शरमाकर अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर ली। मैं विकल हो गया। वही शरमीली दृष्टि! वही मंद मुस्कान! मैंने अपने मन में कहा—चमेली के सौंदर्य में तो ज़रा भी अंतर नहीं आया। क्या मैं इतने दिनों अंधा रहा, जो यह बात न देख सका? ओफ़! मैंने

कितना अनर्थ किया, जो इसकी ओर से इतना उदासीन हो गया। मुझे क्या हो गया था? मैं इसे इतने दिन कैसे और क्यों ठुकराए रहा? इसमें कौन-सा ऐसा बुरा परिवर्तन हो गया था, जिसके कारण मैं इससे इतने दिनों घृणा करता रहा? मैं इस रत्न को छोड़कर इधर-उधर काँच के टुकड़ों से कैसे आनंद का अनुभव करता रहा? इसलिये कि यह रोग-ग्रस्त थी? छिः-छिः! कितनी पाशविकता हुई! मैं यदि उसी प्रकार चेष्टा करता रहता, तो बहुत संभव है, यह अब तक कभी की रोग-मुक्त हो गई होती। इसे रोग-ग्रस्त और इतने कष्ट में छोड़कर मैं अकेला, केवल अपने ही लिये, आनंद और सुख की खोज में कैसे घूमता रहा? यदि यह दुखी थी, तो मुझे इसका दुख बँटाना चाहिए था, न कि इसको इस दशा में छोड़कर अकेले सुख-भोग करना। ओफ़्! कितना अनर्थ हुआ! इसने इन सब बातों को जानकर भी कभी कोई शिकायत नहीं की, उलटे यह सदैव मुझे प्रसन्न और सुखी रखने की चिंता करती रही। यहाँ तक कि केवल मुझे सुखी करने के लिये इसने मेरा दूसरा विवाह कराने की भी चेष्टा की। आह! मेरे और इसके व्यवहार में आकाश-पाताल का अंतर रहा। ओफ़्! मैंने बड़ा पाप किया। न-जाने इस पाप से कैसे मुक्त हो सकूँगा!

चमेली ने मुझे विचार-सागर में निमग्न देखकर पूछा—"क्या सोच रहे हो?"

मैं—"कुछ नहीं।"

चमेली—"मैंने कुछ कहने के लिये बुलाया था।"

मैं—"कहो, क्या कहती हो?"

चमेली—"मेरे कारण तुम्हें बड़ा कष्ट मिला। मैं तुम्हारे सुख-मार्ग का काँटा रही। मेरे भाग्य में तो विधाता ने सुख लिखा ही न था। जितना लिखा था, वह भोगा, और वह स्वप्न में बैकुं

मिलने की तरह था। परंतु मैं तुम्हारा सुख नष्ट करने का कारण रही। अब मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता है कि मैं तुम्हारे सुख-मार्ग से अलग हुई जाती हूँ। अब तुम संसार में सुख भोगने के लिये स्वतंत्र......।"

मैं आगे कुछ न सुन सका। मैंने बेचैन होकर कहा—"चमेली, यह तुम क्या बक रही हो? तुम्हारे बिना मुझे स्वर्ग में भी सुख नहीं मिल सकता। ईश्वर न करे........।"

चमेली कुछ विस्मित होकर बोली—"नाथ, अब लोकाचार दिखाने का समय नहीं है। यह कपट-वेष छोड़ो और जो मैं कहती हूँ, उसे सुनो।"

मैं अत्यंत दुःखित होकर बोला—"चमेली, मैं बड़ा अधम हूँ, बड़ा नीच हूँ। इसमें संदेह नहीं कि एक घंटा पहले तक मैं कपट-वेष धारण किए हुए था, परंतु ईश्वर साक्षी हैं, इस समय मैं अपने पिछले शुष्क व्यवहार पर अत्यंत लज्जित हूँ। मैंने जो कुछ किया, उसका प्रायश्चित्त यदि ये प्राण देकर भी हो सके, तो मैं करने को तैयार हूँ। मैं अंधा हो गया था। मैं नहीं जानता, मुझे क्या हो गया था। मुझे इस बात का आश्चर्य है कि मैंने कैसे तुमसे यह दुर्व्यवहार किया।"

इतना कहते-कहते मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। मेरी हिचकी बँध गई। चमेली की आँखों से भी आँसुओं की धार बहने लगी।

कुछ देर बाद उसने कहा—"यदि यह बात तुमने आज से कुछ दिनों पहले कही होती, तो कदाचित् मैं जीवित रहने की चेष्टा करती; परंतु अब कुछ नहीं हो सकता।"

मैं चौंक पड़ा। मेरी आँखों के आगे अँधेरा आने लगा। मैंने चमेली का सिर अपनी गोद में रखकर कहा—"नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। ऐसे समय में, जब मैं अपनी भूल पर पश्चात्ताप कर

रहा हूँ, उसका प्रायश्चित्त करने के लिये तैयार हूँ, जब तुम अब मुझे संसार की समस्त मूल्यवान् चीज़ों से प्रिय हो गई हो, तब मुझे छोड़कर जाना चाहती हो ? नहीं प्रियतमे, ऐसा कभी नहीं हो सकता !"

चमेली एक आह भरकर बोली—"तुम्हारी इन बातों से मुझे मृत्यु से भय मालूम होता है। हृदय में जीने की उत्कट लालसा उत्पन्न होती है। अभी तक मैं प्रसन्नता-पूर्वक मरने को तैयार थी, परंतु अब तुम्हारी बातों से मुझे मरना दुखदाई प्रतीत हो रहा है। नाथ, मेरा अंत समय दुखदायी न बनाओ ! मुझे इस प्रकार मरने में कष्ट होगा। तुम यही कहो कि मैं तुमसे घृणा करता हूँ। उसी प्रकार उदासीन भाव रक्खो। मुझे विश्वास दिला दो कि तुम्हें मेरे मरने से प्रसन्नता होगी, सुख होगा, जिसमें मुझे मृत्यु से भय न हो, मैं प्रसन्नता-पूर्वक मरूँ।"

दुःख और पश्चात्ताप से मेरा कंठ रुँध गया। मैं उसकी बात का कोई उत्तर न दे सका। चमेली ने कहा—"इस अंत समय में मैं केवल एक भिक्षा तुमसे माँगती हूँ।"

मैंने बड़ी कठिनता से कहा—"क्या ?"

चमेली—"मेरे ज्ञानू को कभी कुछ न कहना !"

इतना कहकर चमेली बेहोश हो गई, फिर उसे अंतिम श्वास तक होश न आया।

विधवा

(१)

बाबू इंद्रजीतसिंह और मुझसे बड़ी गहरी मित्रता थी। हम दोनो एक ही जाति, एक ही उम्र तथा एक ही विचार के आदमी थे। बाबू इंद्रजीतसिंह मेरे घर से थोड़ी ही दूर पर रहते थे। अतएव समय मिलने पर कभी मैं उनके घर चला जाता, और कभी वह मेरे घर आ जाते थे। बाबू इंद्रजीतसिंह एक हिंदोस्तानी फ़र्म (व्यवसाय) में हेडक्लर्क अर्थात् बड़े बाबू थे; मासिक वेतन १५०) मिलता था। उनके परिवार में उनके और उनकी अर्द्धांगिनी के सिवा और कोई न था। उनकी एक बहन भी थी; पर वह अधिकतर अपनी ससुराल में रहती थी, कभी-कभी दो-एक मास के लिये चली आया करती थी।

उन दिनों मैंने डॉक्टरी में एल्० एम्० एस्० की पदवी प्राप्त करके अपना कारोबार आरंभ किया था। उस समय मेरे परिवार में मेरी वृद्धा माता तथा एक विधवा बहन के सिवा और कोई न था। मेरा विवाह नहीं हुआ था। यद्यपि शहर में काफ़ी जायदाद होने के कारण मुझे आर्थिक चिंता न थी, परंतु, तो भी, मैंने अपना विवाह नहीं किया था। मेरे विचारों में कुछ विचित्रता थी। लोग ऐसा ही कहते थे। पर मुझे अपने विचारों में कोई विचित्रता नहीं दिखाई देती थी। मेरे विचारों की एक विचित्रता, यदि वह विचित्रता कही जा सकती है, यह थी कि मैंने शिक्षिता और रूप-

वती विधवा से विवाह करने का प्रण-सा कर लिया था। मेरे इस प्रण को मेरी माता तथा बड़ी बहन भी, जिन्हें हर तरह से सुखी रखना और जिनकी आज्ञाओं का पालन करना मैं अपना कर्तव्य-सा समझता था, नहीं तोड़ सकी थीं। मैं यह जानता था कि मेरे विवाह न करने से मेरी माता तथा बहन को मानसिक क्लेश हो रहा है, उनके बहुत-से अरमानों का ख़ून हो रहा है, किंतु मैंने अपनी भीष्म-प्रतिज्ञा को तोड़ना पाप समझा।

एक दिन मैं शाम को बाबू इंद्रजीत के मकान पर गया। वह ऑफ़िस से लौटकर कुछ जल-पान करने के लिये बैठे ही थे। मुझे देखकर बोले—"आओ, अच्छे समय पर आए। (अपनी स्त्री से) जाओ, इनके लिये भी कुछ लाओ।"

इंद्रजीतसिंह की पत्नी मुझसे पर्दा न करती थीं। वह पर्दा न करती थी, बल्कि इंद्रजीत ही न करने देते थे। इंद्रजीत की पत्नी चंद्रकला मेरे लिये भी थोड़ा-सा खाद्य ले आईं। मैं भी खाने लगा।

इंद्रजीत बोले—"आज 'हॉल' नहीं गए क्या?"

हॉल से उनका तात्पर्य मेडिकल हॉल (दवाख़ाने) से था।

मैंने उत्तर दिया—"गया तो था। दिन-भर ख़ाली बैठा कुरसी तोड़ता रहा। बैठे-बैठे जी ऊब गया। इस समय यह समझकर कि तुम ऑफ़िस से आ गए होगे, इधर चला आया।"

इंद्रजीत—"अभी कोई मरीज़-वरीज़ नहीं मिला?"

मैं—"अभी कोई नहीं मिला। और मिले भी कहाँ से? ढेरों तो डॉक्टर हैं। गली-गली 'मेडिकल हॉल' और 'फ़ार्मेसी' हैं। इसके सिवा अभी मुझे काम प्रारंभ किए दिन ही कितने हुए?"

इंद्रजीत—"हाँ, जब धीरे-धीरे लोग जानेंगे, तब मरीज़ भी मिलेंगे।"

चंद्रकला मुस्किराकर बोली—"डॉक्टर तो सबेरे उठकर यही

मनाते होंगे कि कोई बड़ा आदमी बीमार हो, तो हमारी बन आवे।"

मैंने कहा—"हाँ, बहुत-से मनाते भी हैं; परंतु साथ ही यह भी मनाते हैं कि वह हमारी चिकित्सा से अच्छा हो जाय।"

चंद्रकला—"अच्छा करना कुछ उनके हाथ में थोड़े ही है। जो ऐसा हो, तो फिर काहे को कोई मरे।"

इंद्रजीत बोल उठे—"यदि अच्छा करना उनके हाथ में नहीं है, तो बीमार करना भी उनके हाथ में नहीं। वे लाख मनाया करें, उनके मनाने से होता ही क्या है।"

हम दोनो जल-पान कर चुकने के पश्चात् हाथ-मुँह धोकर बैठे। चंद्रकला पान बनाने लगी।

इंद्रजीत ने पूछा—"अब कहाँ का इरादा है? घूमने चलोगे, या घर जाओगे?"

मैंने उत्तर दिया—"घर में क्या रक्खा है? घर में तो मेरा जी ही नहीं लगता।"

चंद्रकला बोल उठी—"जी क्या लगे पत्थर! जी लगने का सामान भी तो हो! कल मैं माजी (मेरी माता) के पास गई थी। सच कहती हूँ, वह इतनी दुखी हैं कि कुछ कहा नहीं जाता। कहती थीं कि मुझे और कोई दुख नहीं; केवल यही दुख है कि रघुवीर की बहू का मुँह न देख सकी। उनकी तो यह अभिलाषा थी कि तुम्हारे लड़के-वाले देखकर मरतीं; पर जब बहू का मुँह देखने ही के लाले पड़े हैं, तब लड़के-वालों की कौन कहे।"

इंद्रजीत बोले—"हाँ भई, यह बात तो तुम्हारी निस्संदेह ठीक नहीं। आख़िर तुमने सोचा क्या है?"

मैं—"भाई, मैं तो तुम्हें अपने विचार बतला चुका हूँ।"

इंद्रजीत—"यार, तुम्हारी सब बातें मुझे पसंद हैं, तुम्हारे सब

विचार मेरे विचारों से मेल खाते हैं, पर इस संबंध में मैं तुम्हारे विचार से सहमत नहीं। भला, यह भी कोई बात है कि कोई सुंदर और पढ़ी-लिखी विधवा न मिलेगी, तो तुम विवाह ही न करोगे ? ख़ासे रहे ! मेरी समझ में तो यह पागलपन है।"

चंद्रकला—"आप तो डॉक्टर हैं, औरों की नाड़ी टटोलते हैं, दूसरों का पागलपन दूर करते हैं, पर अपना पागलपन दूर करने की चेष्टा नहीं करते।"

मैंने मुस्किराकर कहा—"मनुष्य अपने रोग की स्वयं दवा नहीं कर सकता। डॉक्टरों को भी अपने रोग की चिकित्सा के लिये दूसरे डॉक्टरों की सहायता लेनी पड़ती है। अतएव मैं अपना यह पागलपन स्वयं नहीं दूर कर सकता। इसके लिये किसी दूसरे डॉक्टर की आवश्यकता है !"

चंद्रकला पान लपेटती हुई बोली—"ऐ हटो भी, व्यर्थ बातें बनाते हो !"

इंद्रजीत—"भाई रघुवीर, सचमुच यह बड़ी बुरी बात है। यह हठ छोड़ो। कोई समझदार आदमी तुम्हारे इस हठ को ठीक नहीं कह सकता।"

मैं कुछ गंभीर होकर बोला—"यार इंद्रजीत, इस संबंध में वाद-विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं। माना कि यह मेरा पागलपन है, पर यह ऐसा पागलपन है, जो तर्क और वाद-विवाद से दूर नहीं हो सकता। ईश्वर ही इस पागलपन को दूर करे, तो करे। मनुष्य नहीं कर सकता।"

इंद्रजीत—"यदि यह बात है, तो अब कुछ न कहूँगा। ईश्वर तुम्हारे इस पागलपन को दूर करे।"

चंद्रकला मेरे हाथ में पान देते हुए बोली—"मेरा हृदय तो यह कहता है कि तुम्हारा यह पागलपन दूर हो जायगा, और जल्दी

मनुष्य ही द्वारा दूर होगा। लोहा लोहे ही से कटता है। तुम्हें भी जब कोई तुम्हारा ही-सा पागल मिल जायगा, तब यह सारा पागलपन दूर हो जायगा।"

मैंने मुस्किराकर कहा—"तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर।"

(२)

उपर्युक्त घटना के पश्चात् दो वर्ष व्यतीत हो गए। इतने दिनों में मेरा काम चल निकला। इंद्रजीतसिंह के यहाँ मेरा आना-जाना कम हो गया; क्योंकि रोगियों से छुट्टी कम मिलने लगी।

शहर में इनफ़्लुएंज़ा अर्थात् श्लेष्मज्वर का ज़ोर था। मौत का बाज़ार गरम हो रहा था। मुझे खाने-पीने तक की छुट्टी न थी।

मैं एक रोगी को देखकर लौटा था। एक और सज्जन मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। जैसे ही मैं गाड़ी से उतरा, वह मुझसे बोले—"डॉक्टर साहब, मैं आपके लिये बड़ी देर से बैठा हूँ। कृपाकर मेरे साथ तुरंत चलिए। ज़रा मेरी माता को देख लीजिए।"

मैं उलटे पैरों लौट पड़ा। गाड़ी के पावदान पर पैर रक्खा ही था कि इंद्रजीतसिंह का नौकर घबराया हुआ आया और बोला—"बाबूजी, हमारे बाबूजी की तबियत बहुत ख़राब है। बुख़ार चढ़ आया है। बदन में इतना दर्द है कि चिल्ला रहे हैं। मालकिन ने आपको बुलाया है। अभी चलिए।"

नौकर की बात सुनकर मेरा कलेजा धड़क उठा। बुख़ार और बदन में दर्द! मालूम हो गया कि इनफ़्लुएंज़ा का आक्रमण है। पहले तो मेरे जी में आया कि उन महाशय से कह दूँ कि कोई दूसरा डॉक्टर ले जाइए, मैं नहीं जा सकता; परंतु फिर यह सोचकर कि इन बेचारों पर भी आपत्ति है, न-जाने कितनी देर से मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं, ऐसी दशा में इन्हें निराश करना ठीक नहीं,

मैंने इंद्रजीतसिंह के नौकर से कहा—"अच्छा, अभी चलता हूँ। एक जगह हो लूँ। तुम भी गाड़ी के पीछे बैठ जाओ।"

मैं उक्त महाशय के यहाँ गया। उनकी माता को देखकर नुसख़ा लिखा, और वहाँ से सीधा इंद्रजीत के यहाँ पहुँचा।

मुझे देखते ही चंद्रकला रोने लगी। मैंने कहा—"रोने की कौन बात है? आजकल मौसम ख़राब है, पर कोई चिंता नहीं। सब ठीक हो जायगा।" यह कहकर मैं इंद्रजीत के पास गया। इंद्रजीत पलँग पर पड़े तड़प रहे थे। दर्द के मारे उनका बुरा हाल था। मैंने उन्हें पुकारा—"इंद्रजीत, इंद्रजीत!" उन्होंने कुछ स्थिर होकर आँखें खोलीं, और मेरी ओर देखा। मैंने पूछा—"क्या हाल है?"

इंद्रजीत कराहते हुए बोले—"बड़ा दर्द है! आह।"

मैंने कहा—"घबराओ नहीं, दर्द जाता रहेगा।"

मैंने थर्मामीटर लगाया। बुख़ार १०३ डिगरी था। छाती की भी जाँच की। उस समय तक फेफड़े ठीक थे।

मैंने चंद्रकला से पूछा—"खाँसी तो नहीं आती?"

चंद्रकला—"खाँसी आती है, पर बहुत नहीं। प्यास बहुत है।"

मैं—"पानी इन्हें मत देना। केवल बर्फ़ का टुकड़ा देना।"

मैंने तुरंत नुसख़ा लिखा और नौकर को अपने दवाख़ाने भेज दिया। नुसख़े पर मैंने 'शीघ्र'-शब्द लिख दिया था, अतएव दस ही मिनट में नौकर दवा लेकर आ गया। मैंने अपने हाथ से उन्हें एक मात्रा पिला दी। एक दवा मालिश के लिये भी मँगाई थी। उसकी मालिश की युक्ति बता दी, और अन्य आवश्यक बातें भी समझा दीं। फिर चलने के लिये उठ खड़ा हुआ। चलते समय मैंने चंद्रकला से कहा—"जो बातें मैंने बतलाई हैं, उनका ध्यान रखना।

घबराने की कोई बात नहीं। अच्छे हो जायँगे। मैं भोजन करके फिर आऊँगा।"

वहाँ से सीधा घर आया। कुछ भोजन करके मैंने इंद्रजीतसिंह के रोग-ग्रस्त होने का समाचार माता तथा बहन को सुनाया। उन दोनो की भी चिंता हुई। मैंने अपनी बहन से कहा—"अच्छा हो, यदि तुम वहाँ चली जाओ। चंद्रकला अकेली है, और घबरा रही है। ऐसे समय में धीरज देनेवाला कोई अवश्य होना चाहिए।"

बहन तुरंत जाने के लिये तैयार हो गई। उसके उधर चले जाने पर मैं दवाख़ाने चला आया।

(३)

मैंने इंद्रजीत को मौत के पंजे से छुड़ाने की भरसक चेष्टा की। दो दिन तक उनके पास चौबीसों घंटे उपस्थित रहा। अन्य रोगियों को देखना भी छोड़ दिया; केवल कुछ पुराने रोगियों को देख आता था।

परंतु मेरा सारा परिश्रम व्यर्थ गया। तीसरे दिन इंद्रजीत को न्यूमोनिया हो गया, उनके फेफड़ों में ख़राबी आ गई, साँस लेना कठिन हो गया। मैं घबराया। समझ गया कि अब मेरी चिकित्सा से कोई लाभ न होगा। यह सोचकर मैंने शहर के अन्य बड़े-बड़े डॉक्टरों को एकत्र किया। उन सबके परामर्श से औषध दी गई। मैं धड़कते हुए हृदय से परिणाम की प्रतीक्षा करने लगा।

रात के बारह बज चुके थे। मैं इंद्रजीत के सिरहाने कुरसी पर बैठा एक पुस्तक पढ़ रहा था। मेरे बहुत समझाने पर चंद्रकला कुछ समय के लिये कमर सीधी करने को लेट गई थी। सहसा इंद्रजीत ने करवट लेकर पुकारा—"चंद्रकला!"

मैंने कहा—"क्यों भाई, क्या चाहिए? चंद्रकला को मैंने सुला दिया है, कई दिन की जागी हुई थी।"

इंद्रजीत ने आँखें खोलकर मेरी ओर देखा। थोड़ी देर स्थिर दृष्टि से देखने के बाद बोले—"रघुवीर!"

मैं—"हाँ भाई, क्या चाहिए?"

इंद्रजीत—"मैंने एक स्वप्न देखा है।"

मैं समझा कि इंद्रजीत बेहोशी की हालत में बातें कर रहे हैं। मैंने कहा—"होगा, जाने दो स्वप्न को, चुपचाप पड़े रहो। बात करने से साँस फूलेगी।"

इंद्र०—"नहीं,—साँस—नहीं,—मैं—ने—एक—स्वप्न—स्वप्न देखा है।"

मैंने पूछा—"क्या स्वप्न?"

इंद्रजीत—"तुमने—चंद्रकला,—चंद्रकला—से—विवाह—कर लिया।"

यदि उस समय इंद्रजीत एकदम रोग-मुक्त होकर उठ बैठते, और मुझसे पूछते "घूमने चलोगे?", तब भी मैं इतना न चौंकता, जितना उनकी इस बात से चौंका। मेरा मुँह बंद हो गया। मैं नहीं समझ सका कि उनकी इस बात का क्या उत्तर दूँ।

इंद्रजीत बोले—"क्यों,—चुप—क्यों—हो गए—?"

और, कुछ न सोच सकने के कारण मैंने कहा—"ऐसी वाहियात बात मुह से न निकालो—शांत होकर पड़े रहो। ईश्वर तुम्हें अच्छा कर देंगे। घबराते क्यों हो?"

इंद्रजीत—"रघुवीर!"

मैंने कहा—"क्या कहते हो? तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आती।"

इंद्रजीत—"तुम—जैसी—विधवा—चाहते—हो,—चंद्रकला—वैसी ही है।"

ओफ़्! मेरी सहन-शक्ति का अंत हो गया। यदि इंद्रजीत बीमार

न होते, तो मैं उनके पास से भाग जाता, और समस्त आयु उनसे बात न करता। कुशल इतनी ही हुई कि चंद्रकला सो रही थी। यदि वह पास होती, तो न जाने मेरी क्या दशा होती।

मैंने कहा—"भाई इंद्रजीत, ईश्वर के लिये तुम ऐसी बातें न कहो।"

इंद्रजीत—"रघुवीर!"

मैं—"भाई, शांत होकर पड़े रहो। कहना मानो। बातें करने से कष्ट बढ़ेगा।"

इंद्रजीत—"मैं—इ—बात—से—प्र—प्रसन्न हूँ। मेरे—पश्चात् उस पर—तुम्हारा—अधि—"

इतना कहकर इंद्रजीत चुप हो गए। उनकी साँस फूल गई। वह ज़ोर-ज़ोर से हाँफने लगे।

मैंने औषध की एक मात्रा पिलानी चाही, पर उन्होंने हाथ से दवा हटा दी।

इसके बाद फिर वह न बोल सके। दशा बिगड़ती ही गई। प्रातःकाल चार बजे के लगभग चंद्रकला की आँख खुली। उसने मुझसे पूछा—"क्या हाल है?"

मैंने गिरे हुए स्वर में कहा—"वैसा ही है।"

सवेरे सात बजे इंद्रजीत को फिर कुछ होश आया। श्वास चढ़ी हुई थी। बोल नहीं सकते थे। पलँग की एक ओर मैं बैठा था, और दूसरी ओर चंद्रकला। इंद्रजीतसिंह ने पहले मेरी ओर देखा, फिर चंद्रकला की ओर। तत्पश्चात् उनका एक हाथ मेरे हाथ की ओर बढ़ा और दूसरा चंद्रकला के हाथ की ओर। हम दोनो उनका तात्पर्य न समझ सके। हम दोनो ने इस विचार से कि वह उठना चाहते हैं, उनको सँभालने के लिये हाथ बढ़ाए। उन्होंने हम दोनो के हाथ पकड़ लिए, और चंद्रकला का हाथ खींचकर मेरे हाथ में

दे दिया। यह करके हमारे हाथ छोड़कर फिर पूर्ववत् शांत होकर लेट रहे।

दिन के बारह बजे के निकट उनकी आत्मा इस असार संसार से सदैव के लिये विदा हो गई।

(४)

इंद्रजीतसिंह की मृत्यु के छ महीने बाद एक दिन इंद्रजीतसिंह के नौकर ने आकर मुझे एक पत्र दिया। मैंने पत्र खोलकर पढ़ा। पत्र चंद्रकला का लिखा हुआ था। पत्र में केवल इतना लिखा था—

"आज किसी समय मुझसे आकर मिलो। एक आवश्यक काम है।

चंद्रकला"

मैंने पत्र की पीठ पर लिख दिया कि मैं शाम को आऊँगा।

शाम को मैं चंद्रकला के पास गया। बैठने के कुछ देर बाद मैंने पूछा—"मुझे किसलिये बुलाया था?"

चंद्रकला बोली—"उनके (इंद्रजीतसिंह के) पश्चात् मेरा भरण-पोषण तुम्हीं कर रहे हो। यदि इस अवसर पर तुम सहायता न करते, तो न-जाने मेरी क्या दशा होती। मेरे मायके में कोई नहीं। मेरी नंद और नंदोई ने भी मुझसे रूखा व्यवहार किया। अतएव इस समय तुम्हारे सिवा मेरा कोई नहीं है। तुमने जो कुछ किया, उसके लिये मैं ज़िंदगी-भर तुम्हारी ऋणी रहूँगी।"

मैंने कहा—"इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं। मैंने जो कुछ किया, वह अपना कर्तव्य समझकर किया।"

चंद्रकला—"मैं तुम्हारे ऋण से कभी मुक्त नहीं हो सकती। परंतु मैं चाहती हूँ, मुझसे भी तुम्हारी कुछ सेवा हो।"

मैंने कहा—"तुम्हारी बात मेरी समझ में न आई। तुम्हारा तात्पर्य क्या है?"

चंद्रकला कुछ देर तक नीरव रहकर बोली—"मुझे निर्लज्ज समझो, बेहया समझो, चाहे जो समझो, परंतु अब मुझसे कहे विना नहीं रहा जाता। अब तक मैं आगा-पीछा करती रही, संकोच करती रही, पर अब मैंने निश्चय कर लिया है।"

मैं—"क्या निश्चय कर लिया है?"

चंद्रकला—"तुम्हारे साथ विवाह करना।"

मैं चौंक पड़ा। मुझे अपनी श्रवण-शक्ति पर अविश्वास हुआ। मैंने फिर पूछा—"क्या कहा?"

चंद्रकला—"यही कि तुम मेरे साथ विवाह करके मेरा उद्धार करो। मैं इस प्रकार अपना जीवन नहीं काट सकती। इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने से मेरे हृदय को शांति न मिलेगी।"

मुझे चंद्रकला की बात पर आश्चर्य हुआ। मैंने सोचा—क्या यह पागल हो गई है? यदि पागल न होती, तो इतनी निर्लज्ज कैसे हो जाती? विधवा स्त्री अपने मुख से विवाह का प्रस्ताव करे, यह पागलपन नहीं, तो क्या है?

मैंने कहा—"यह क्या कहती हो? तुम अपने होश में नहीं हो। इंद्रजीत का स्वर्गवास हुए अभी छ ही महीने हुए हैं, इतनी जल्दी—।"

चंद्रकला मुझे रोककर बोली—"नहीं, उनको मैं इस जीवन में नहीं भूल सकती। परंतु मुझे यह भी याद है कि उन्होंने अंतिम समय मेरा हाथ तुम्हारे हाथ में दिया था। मैं उनका तात्पर्य समझ गई थी। मैं उन्हीं की इच्छा का पालन कर रही हूँ। इसमें मेरे दो लक्ष्य हैं। एक तो मैं तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्ण करके तुम्हारी कुछ सेवा कर सकूँगी—तुमने हमारे साथ जो उपकार किए हैं, उनका कुछ बदला दे सकूँगी; दूसरे मेरा जीवन भी शांतिमय बीतेगा। मैं इस उदासीन जीवन में नहीं रह सकती। मुझे जो कुछ

कहना था, कह चुकी। अब मेरा उद्धार करना, मेरे जीवन को शांतिमय बनाना तुम्हारे हाथ में है।"

मैं सोच में पड़ गया। इसमें संदेह नहीं कि चंद्रकला रूपवती थी, पढ़ी-लिखी थी। मुझे इस प्रकार की स्त्री से विवाह करने में कोई आपत्ति न थी। मेरा हृदय प्रलोभन और कर्तव्य के झूले में झूलने लगा। स्वार्थ कहता था, हानि ही क्या है? तुम्हारी रुचि के अनुसार कार्य हो रहा है। कर्तव्य कहता था, ख़बरदार! यह उस व्यक्ति की स्त्री है, जिसे तुम अपने सगे भाई के तुल्य समझते थे। बड़ी देर तक मेरे हृदय के भीतर स्वार्थ और कर्तव्य का द्वंद्व-युद्ध होता रहा।

अंत को मैंने चंद्रकला से कहा—"मैं यह काम त्रिकाल में भी नहीं कर सकता। मैंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी है। मैं अब विधवा से विवाह नहीं करना चाहता।"

चंद्रकला—"क्या तुम यह सच कह रहे हो?"

मैं—"हाँ, सच कह रहा हूँ।"

चंद्रकला—"मुझे विश्वास नहीं होता।"

मैं—"कैसे विश्वास दिलाऊँ?"

चंद्रकला—"तुम अब अपना विवाह किसी भी कन्या से करने के लिये तैयार हो?"

मैं—"हाँ, तैयार हूँ, पर रूपवती और पढ़ी-लिखी भी हो।"

चंद्रकला—"यह आवश्यक नहीं कि विधवा हो?"

मैं—"नहीं।"

चंद्रकला की आँखों से आँसू बहने लगे। उसने कहा—"मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ। मैं तुम्हारे ही लिये इतना आत्मत्याग कर रही थी। मुझे विवाह की कोई लालसा नहीं। मैं इसे पाप समझती हूँ। परंतु तुम्हारे लिये मैं यह पाप करने के लिये भी तैयार थी। तुमने

मुझे इस पाप से बचाकर मेरे साथ वह उपकार किया है, जिसका बदला मैं जन्म-जन्मांतर में भी नहीं दे सकती। अब मैं शांति-पूर्वक अपना जीवन बिताऊँगी।"

मैं—"अब तुमने अपने लिये क्या सोचा है?"

चंद्रकला—"बस, ईश्वर-भजन में अपना जीवन बिताऊँगी।"

मैं—"बहन चंद्रकला, मैं तुम्हें एक और मार्ग बता सकता हूँ, जिससे तुम्हारा जीवन अधिक शांति-पूर्वक बीत सकता है।"

चंद्रकला—"मैं उस मार्ग पर चलने के लिये तैयार हूँ।"

मैं—"संसार में परोपकार से बढ़कर और कोई मार्ग नहीं। उसी से हृदय को सच्ची शांति मिल सकती है। मेरा विचार एक अनाथालय खोलने का है।"

चंद्रकला—"बड़ी अच्छी बात है। निस्संदेह इस प्रकार मैं अपना जीवन और भी अधिक शांति-पूर्वक बिता सकूँगी। मैं तुम्हारे अनाथालय में आमरण अनाथों की सेवा करूँगी।"

हमारे ऐतिहासिक उपन्यास !

राना बेनीमाधव

लेखक, अमरबहादुरसिंह 'अमरेश' । सन् १८५७ के भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम के अमर सेनानी राना बेनीमाधव की—जिनके स्वदेश-प्रेम, अदम्य साहस, वीरता तथा रण-कौशल की गाथाएँ आज भी जन-श्रुति, लोक-गीतों तथा लोक-कथाओं के रूप में अवध की कोटि-कोटि जनता के कंठों में गुंजरित हो रही हैं—वीर-गाथा, उपन्यास के रूप में; मूल्य ४॥)

अमृतकन्या

लेखक, श्री अज्ञात एम्० ए० । भारत-विभाजन के साथ देश में फैली अराजकता, तत्कालीन मानव के राक्षसी रूप का चित्रण। उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत ; मूल्य ५)

गढ़-कुंडार

लेखक, वृंदावनलाल वर्मा । इतिहास के गर्त से उभरी हुई, साहस, शौर्य और स्वाभाविक प्रेम की अद्भुत कथा । 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' द्वारा पुरस्कृत ; मूल्य ६)

विराटा की पद्मिनी

लेखक, वृंदावनलाल वर्मा। नारी के अदम्य त्याग, साहस और प्रेम की रोचक कथा। वर्माजी का सर्व-प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास; मूल्य ६)

चंद्रगुप्त मौर्य

लेखक, मिश्रबंधु। मौर्य-वंशी सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य की जीवन-गाथा, खोज-पूर्ण ऐतिहासिक तत्त्वों के साथ; मूल्य ३॥)

पुष्यमित्र

लेखक, मिश्रबंधु। साहस और शौर्य की प्रतिमूर्ति, शुंग-वंश के संस्थापक सम्राट् पुष्यमित्र की जीवन-गाथा; मूल्य ४)

स्वतंत्र भारत

लेखक, मिश्रबंधु। स्वतंत्रता-प्राप्ति पर देश में फैली अराजकता, शासक वर्ग की कठिनाइयाँ तथा उनके निवारण का सरल क्रमानुसार वर्णन; मूल्य ४)

अमिताभ

लेखक, गोविंदवल्लभ पंत। अमित आभा-युक्त भगवान् गौतम बुद्ध की जीवन-गाथा रोचक उपन्यास के रूप में; मूल्य ४॥)

नूरजहाँ

लेखक, गोविंदवल्लभ पंत। मुग़ल-सम्राज्ञी नूरजहाँ की रोचक प्रणय-कथा के साथ उसकी दूरदर्शिता, साहस और रण-कौशल का अपूर्व चित्रण; मूल्य ५)

भीष्म-प्रतिज्ञा

महावीर, ब्रह्मचारी भीष्म के अपूर्व त्याग, उनकी कर्तव्यनिष्ठा और शौर्य की गौरव-गाथा ; मूल्य २॥)

[अन्यान्य पुस्तकों के लिये सूचीपत्र मँगाइए।]

गंगा-ग्रंथागार, ३६, गौतम बुद्ध-मार्ग, लखनऊ